अनेकान्त

कार्तिक, मार्गशीर्ष २००६ :: नवम्बर, दिसम्बर १९४८

वीरसेवामन्दिरका त्रयोदशवर्षीय महोत्सव

आज मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही आनन्द होता है कि भारतके महान् सन्त और आध्यात्मिक नेता पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य वैशाख वदि १ ता० १४ अप्रेल १९४९ को अपने सङ्घ-सहित वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)में पधार रहे हैं और वे यहाँ एक सप्ताह तक ठहरेंगे। इस स्वर्णावसरपर वैशाख वदी ५ व ६ ता० १७, १८ अप्रेल दिन रविवार तथा सोमवारको वीरसेवामन्दिरके त्रयोदशवर्षीय अधिवेशनका आयोजन किया गया है। अतः समाजके सब सज्जनोंसे सानुरोध निवेदन है कि वे इस अपूर्व समारोहके शुभावसर पर अपने परिवार तथा मित्रों-सहित अवश्य पधारनेकी कृपा करें और वीरसेवामन्दिरके अनेक उल्लेखनीय महत्वके साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कार्योंका साक्षात्परिचय प्राप्त करनेके साथ ही पूज्य वर्णीजीके प्रवचनोंसे यथेष्ट लाभ उठावें। इस महोत्सवको सफल बनानेके लिये स्वागत-समितिका निर्माण होचुका है और उसने सोत्साह अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

अधिष्ठाता

वीरसेवामन्दिर सरसावा, जि० सहारनपुर

सम्पादकमण्डल
जुगलकिशोर मुख्तार
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

वर्ष ९
किरण
११-१२

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. सिद्धसेन-स्मरण ...	४०९
२. शासन-चतुस्त्रिंशिका (मुनिमदनकीर्तिकृत)—[पं० दरबारीलाल कोठिया ...	४१०
३. सिद्धसेन-स्वयंभूस्तुति (प्रथमा द्वात्रिंशिका) [सिद्धसेनाचार्य प्रणीत ...	४१५
४. सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन—[श्रीजुगलकिशोर मुख्तार ...	४१७
५. धर्म और वर्तमान परिस्थितियाँ—[पं० नेमिचन्द्र शास्त्री ...	४६७
६. ब्रह्मश्रुतसागरका समय और साहित्य [पं० परमानन्द जैन शास्त्री ...	४७४
७. सुधार-सूचना—[प्रकाशक ...	४७५
८. मानवजातिके पतनका मूलकारण-संस्कृतिका मिथ्यादर्शन—[पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य	४७७
९. चम्पानगर—[श्यामलकिशोर झा	४८१
१०. सम्पादकीय (१)—राष्ट्र-भाषापर जैन-दृष्टिकोण [मुनि कान्तिसागर ...	४८३
सम्पादकीय (२) अनेकान्तकी वर्षसमाप्ति और अगला वर्ष–[जुगलकिशोर मुख्तार	४८७
११. प्रकाशकीय वक्तव्य—[अयोध्याप्रसाद गोयलीय ...	४८९

ग्राहकोंसे ज़रूरी निवेदन

इस संयुक्त किरणके साथ अनेकान्तका जहाँ ९वाँ वर्ष समाप्त होरहा है वहाँ सब ग्राहकोंका चन्दा भी समाप्त होरहा है। अगले वर्ष अनेकान्तका मुद्रण और प्रकाशन 'भारतीय-ज्ञानपीठ' काशीके तत्त्वावधानमें बनारससे समयपर हुआ करेगा, उसकी प्रथम किरण एक विशेषाङ्कके रूपमें छपना शुरू होगई है और वह सभी ग्राहकोंको जिनका चन्दा नहीं आया है, अप्रेलके प्रायः प्रथम सप्ताहमें वी० पी०से भेजी जावेगी। अतः प्रेमी ग्राहकोंसे सानुरोध निवेदन है कि वे बनारससे वी० पी० आनेपर उसे अवश्य छुड़ानेकी कृपा करें और विशेषाङ्कके महत्वपूर्ण लेखोंसे यथेष्ट लाभ उठावें। —प्रकाशक

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत किरण नं० ८में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

११) श्रीशिखरचन्द दीनानाथ जैन, गल्लमुरार (ग्वालियर) सिद्धचक्रविधानके उपलक्षमें, मार्फत श्रीब्रजलाल जैन।
१०) श्रीदिगम्बर जैनसमाज बाराबङ्की, मार्फत कल्याणचन्दजी विशारद।
७) डा० पन्नालालजी जैन सम्भल, पुत्रविवाहोपलक्षमें, मार्फत विष्णुकान्तजी मुरादाबाद।
२१) साहू रमेशचन्दजी नजीबाबाद, साहू मूलचन्दजीके स्वर्गवासपर निकाले दानमेंसे।
१०) सेठ चम्पालालजी पाटनी मु० राजशाही, विवाहोपलक्षमें, मा० इन्द्रचन्दजी जैन।
५) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी कलकत्ता, पुत्रविवाहोपलक्षमें।
५) ला० नारायणदास रूड़ामलजी शामियानेवाले सहारनपुर, ला० रूड़ामलजीके स्वर्गवासपर।
५) श्रीभागचन्द दयाचन्दजी जैन, गोंदिया सी० पी०, पुत्रविवाहोपलक्षमें।

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

अनेकान्तकी गत ८वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२०१) रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी नाईट, इन्दौर (पौत्रविवाहकी खुशीमें निकाले हुए दानमेंसे)।
२५) श्रीमती कस्तूरीबाई जैन ठोरा नीमतूरवाली इन्दौर, मार्फत श्रीदौलतराम जी 'मित्र'।
२५) ला० घूमीमल धर्मदासजी कागजी देहली और लाला मुंशीलालजी कागजी देहली (पुत्र-पुत्रीके विवाहोपलक्षमें निकाले हुए दानमेंसे)।
१०) लाला शिब्बामलजी जैन अम्बाला छावनी (सिद्धचक्रविधानके उपलक्षमें) मार्फत पंडित दरबारीलालजी कोठिया।
१०) ला० नारायणदास रूढामलजी जैन शामियानेवाले, सहारनपुर (ला० रूड़ामलजीके स्वर्गवाससे पूर्व निकाले हुए दानमेंसे)।
७) ला० सुरेन्द्रकुमार प्रकाशचन्दजी जैन, सुलतानपुर जि० सहारनपुर (विवाहोपलक्षमें)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेवामन्दिरका
त्रयोदशवर्षीय महोत्सव

निमन्त्रण-पत्र

प्रिय बन्धुवर,

सस्नेह जयजिनेन्द्र ।

बहुत अर्सेसे वीरसेवामन्दिरका एक अधिवेशन अथवा उत्सव करनेका विचार चला जाता है परन्तु अनुसंधानात्मक साहित्यिक प्रवृत्तियोंमें लगातार संलग्न रहने आदिके कारण मुझे उसके अनुकूल अवसर नहीं मिलसका अथवा यों कहिये कि काल-लब्धिकी प्राप्ति न हो सकी, और इसलिये विचार बराबर टलता ही रहा। हालमें यह देखकर कि भारतके एक महान् सन्त उदारमना क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी (न्यायाचार्य) राष्ट्रकी आध्यात्मिक विभूतिके रूपमें लोकहितकी भावनाओंको आत्मसात् किये हुए वर्षोंसे पैदल चलते और अपने सदुपदेश एवं पवित्रात्माके प्रभावसे लोकमें स्व-परकल्याणकी भावनाओंको जागृत करते हुए इधर आ रहे हैं और वीरसेवामन्दिरको भी देखना चाहते हैं. अतः इस शुभ अवसरपर मन्दिरका त्रयोदशवर्षीय महोत्सव कर लेना समुचित समझा गया। यद्यपि त्रयोदशवर्षीय महोत्सव-जैसे कार्यके लिये समय बहुत ही कम है और इस अल्प समयमें उसे वह रूप नहीं दिया जा सकेगा जिसे मैं देना चाहता था, फिर भी इस शुभ संयोगपर मैं वीरसेवामन्दिर' संस्थाको जो अभी तक मेरी ही संस्था समझी जाती रही है— भले ही मेरा आत्मा उसे अपनी न समझता हो, समाज-के पवित्र हाथोंमें सौंप देना चाहता हूँ. जिससे मुझे भारमुक्त होकर अपने अन्तिम ध्येय अथवा चरम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेका कुछ अवसर मिल सके और संस्था भी खूब फले-फूले; इस दृष्टिसे यह उत्सव मेरे लिये एक महोत्सवके ही रूपमें होगा और संस्थाके प्रेमी अपनी उपस्थिति और सहयोग - द्वारा उसे सचमुचमें महोत्सव बना देंगे ऐसी दृढ आशा है।

पूज्य वर्णीजी अपने संघ-सहित, जिसमें अनेक क्षुल्लक साधु और त्यागी जन शामिल हैं, वैशाख वदि ~~एकम~~ १२ को वीरसेवामन्दिरमें पधारेंगे और महोत्सवकी तिथियाँ ~~पञ्चमी~~ १२, ~~छठ~~ १३ तारीख २६, २५ अप्रैल सन् १९४९ दिन रविवार तथा सोमवारकी स्थिर की गई हैं। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि आप इस सत्समागम पर अवश्य ही वीरसेवामन्दिरमें पधारनेकी कृपा करें। इससे आप सन्तदर्शन, वर्णीजीके उपदेशामृतका पान और विद्वानोंके सारभाषणोंका श्रवण करनेके साथ साथ वीरसेवामन्दिरकी प्रवृत्तियोंका साक्षात् परिचय भी प्राप्त कर सकेंगे और अपनी इस पाली - पोषी संस्थाके उज्ज्वल भविष्यका विचार करते हुए उसे समुन्नत और सुव्यवस्थित बनानेके सत्कार्यमें अपना सक्रिय सहयोग भी प्रदान कर सकेंगे।

सरसावा, जिला सहारनपुर
३१ मार्च १९४९

निवेदक
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम

'सन्मति-सिद्धसेनाङ्क'

मूल्य वार्षिक ५)

इस किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	नवम्बर
किरण ११	कार्तिकशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७५, विक्रम-संवत २००५	१९४८

सिद्धसेन—स्मरण

जगत्प्रसिद्ध-बोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराणे, श्रीजिनसेनः

प्रवादि-करि-यूथानां केशरी नय-केशरः ।
सिद्धसेन - कविर्जीयाद्विकल्प - नखराङ्कुरः ॥

—आदिपुराणे, भगवज्जिनसेनः

सदाऽवदातमहिमा सदा ध्यान-परायणः ।
सिद्धसेन - मुनिर्जीयाद्भट्टारक - पदेश्वरः ॥

—रत्नमालायां, शिवकोटिः

मदुक्ति-कल्पलतिकां सिञ्चन्तः करुणाऽमृतैः ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

—यशोधरचरिते, कल्याणकीर्तिः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमन्मुनिमदनकीर्ति-विरचिता

शासन-चतुस्त्रिंशिका

—*—

[यह मुनि मदनकीर्ति विरचित एक सुन्दर एवं प्रौढ रचना है। इसमें दिगम्बर शासनका महत्व ख्यापित करते हुए उसका जयघोष किया गया है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, इसकी मात्र एक ही प्रति उपलब्ध है और जो पिछले वर्ष श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईके पाससे पं० परमानन्दजीद्वारा वीरसेवामन्दिरको प्राप्त हुई थी। यह पाँच पत्रात्मक सटिप्पण प्रति बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है और लगभग चालीस-पैंतालीस स्थानोंपर इसके अक्षर अथवा पद-वाक्य, पत्रोंके परस्पर चिपक जाने आदिके कारण प्रायः मिट-से गये हैं और जिनके पढ़नेमें बड़ी कठिनाई महसूस होती है। प्रेमीजीने भी यह अनुभव किया है और अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' (पृ० १३६)में लिखा है—"इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु वह दो-तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।" हमने सन्दर्भ, अर्थसंगति, अक्षरविस्तारक यंत्र आदि साधनोंद्वारा परिश्रमके साथ सब जगहके अक्षरोंको पढ़कर पद्योंको पूरा करनेका प्रयत्न किया है—सिर्फ दो जगहके अक्षर नहीं पढ़े गये और इसलिये उनके स्थानपर बिन्दु'''' बना दिये गये हैं। अब तक इस कृतिके प्रकाशमें न आसकनेमें संभवतः यही कठिनाई बाधक रही जान पड़ती है। अस्तु।

इस कृतिमें कुल ३६ पद्य हैं। पहला पद्य अगले ३२ पद्योंके प्रथमाक्षरोंसे बनाया गया है जो अनुष्टुप् वृत्तमें है और अन्तिम पद्य प्रशस्ति-पद्य है जिसमें रचयिताने अपने नामोल्लेखके साथ अपनी कुछ आत्म-चर्याका संसूचन (निवेदन) किया है और जो मालिनी छन्दमें है। शेष ३४ पद्य ग्रन्थविषयसे सम्बद्ध हैं और शार्दूलविक्रीडित वृत्तमें हैं। इन चौंतीस पद्योंमें दिगम्बर शासनकी महिमा और विजय-कामना प्रकट की गई है। अतएव यह मदनकीर्तिकी रचना 'शासनचतुस्त्रिंशि (शति)का' अथवा 'शासन-चौंतीसी' जैसे सार्थक नामोंसे जैनसाहित्यमें प्रसिद्धिको प्राप्त है। इसमें विभिन्न स्थानों और वहाँके दिगम्बर जिनबिम्बोंके अतिशयों, प्रभावों और चमत्कारोंके प्रदर्शनद्वारा यह बतलाया गया है कि दिगम्बर शासन सब प्रकारसे जयकारकी क्षमता रखता है और उसके लोकमें बड़े ही प्रभाव तथा अतिशय रहे हैं। कैलाशके जिनबिम्ब, पोदनपुरके बाहुबली, श्रीपुरके पार्श्वनाथ, हुलगिरिके शंखजिन, धाराके पार्श्वनाथ, बृहत्पुरके बृहद्देव, जैनपुर (जैनबद्री)के दक्षिणगोम्मट, पूर्वदिशाके पार्श्वजिनेश्वर, वेत्रवती (नदी)के शान्तिजिन, उत्तरदिशाके जिनबिम्ब, सम्मेदशिखरके बीस तीर्थंकर, पुष्पपुरके श्रीपुष्पदन्त, नागद्रहतीर्थके नागह्रदेश्वरजिन, सम्मेदशिखरकी अमृतवापिका, पश्चिमसमुद्रतटके चन्द्रप्रभजिन, छायापार्श्वविभु, श्रीआदिजिनेश्वर, पावापुरके श्रीवीरजिन, गिरनारके श्रीनेमिनाथ, चम्पापुरीके श्रीवासुपूज्य, नर्मदाके जलसे अभिषिक्त श्रीशान्तिजिनेश्वर, अवरोधनगरके मुनिसुव्रतजिन, विपुलगिरिका जिनबिम्ब, विन्ध्यगिरिके जिनचैत्यालय, मेदपाट (मेवाड़) देशस्थ नागफणीग्रामके श्रीमल्लिजिनेश्वर और मालवदेशस्थ मगलपुर के श्रीअभिनन्दनजिन इन २६ के अतिशयों तथा चमत्कारोंका इसमें कथन है। साथ ही, यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वैशेषिक (कणाद), मायावी, यौग, सांख्य, चार्वाक और बौद्धों द्वारा भी दिगम्बर शासन समाश्रित हुआ है। इस तरह यह रचना एक प्रकारसे दिगम्बर शासनके प्रभावकी प्रकाशिका है।

इसके कर्ता मुनिमदनकीर्ति प० आशाधरजीके, जिनका समय विक्रमकी १३वीं शताब्दी सुनिश्चित है, समकालीन थे और इसलिये इनका समय भी वि० की १३वीं शताब्दी है।

प्रस्तुत रचना हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवामन्दिरसे यथाशीघ्र प्रकाशित की जायेगी। और उसमें रचना तथा रचयिताके सम्बन्धमें विस्तृत प्रकाश डाला जायेगा। —दरबारीलाल कोठिया]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत्पापवासाद्वालोयं ययौ सोपाऽयं स्मयं ।
शुद्ध्यत्यसौ यतिर्जैनमूचुः श्रीपूज्यसिद्धयः[1] ॥ १ ॥

यद्दीपस्य शिखेव भाति भविनां नित्यं पुनः पर्वसु
भूभृन्मूर्द्धनि वासिनामुपचित-प्रीति-प्रसन्नात्मनाम् ।
कैलाशे जिनबिम्बमुत्तमधमत्सौवर्णवर्णं सुरा
वन्द्यन्तेऽद्य दिगम्बरं तदमलं दिग्वाससां शासनम् ॥ १ ॥

पादाङ्गुष्ट-नख-प्रभासु भविनामाऽऽभान्ति पश्चाद्भवा
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः[2] स्वस्योपवास-प्रभाः ।
अद्याऽपि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्य-वन्द्यः स वै
देवो बाहुबली करोतु बलवद्दिग्वाससां शासनम् ॥ २ ॥

पत्रं यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातुं क्षणं न क्षमं
तत्राऽऽस्ते[3] गुणरत्नरोहणगिरिर्यो देवदेवो महान् ।
चित्रं नाऽत्र करोति कस्य मनसो दृष्टः[4] पुरे श्रीपुरे
स श्रीपार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥ ३ ॥

वासं सार्थपतेः[5] पुरा कृतवतः शङ्खान् गृहीत्वा बहून्
सद्धर्मोद्यतचेतसो हुलगिरौ कस्याऽपि धन्यात्मनः ।
प्रातर्मार्गमुपेयुषो न चलिता शङ्खस्य गोणी पदं
यावच्छङ्खजिनो[6] निरावृति[7]रभाद्दिग्वाससां शासनम् ॥ ४ ॥

सानन्दं निधयो[8] नवाऽपि नवधा यं[9] स्थापयाञ्चक्रिरे
वाप्यां पुण्यवतः स कस्यचिदहो स्वं[10] स्वादिदेश प्रभुः[11] ।
धारायां धरणोरगाधिप-शित-च्छत्र-श्रिया राजते
श्रीपार्श्वो नवखण्ड-मण्डित-तनुर्दिग्वाससां शासनम्[12] ॥ ५ ॥

द्वापञ्चाशदनूनपाणिपरमोन्मानं करैः[13] पञ्चभि-
र्यं चक्रे जिनमर्ककीर्तिनृपतिर्प्राचीनमेकं महत्[14] ।
तन्नाम्ना स[15] बृहत्पुरे वरबृहद्देवाख्यया गीयते
[16]श्रीमत्यादिनिषिद्धिकेयमवताद्दिग्वाससां शासनम् ॥ ६ ॥

लोकैः पञ्चशतोमितैरविरतं सहृत्य निष्पादितं
यत्कक्षान्तरमेकमेव महिमा सोऽन्यस्य कस्याऽस्तु भो ! ।
यो देवैरतिपूज्यते प्रतिदिनं जैने पुरे साम्प्रतं
देवो दक्षिणगोम(म्म)टः स जयताद्दिग्वाससां शासनम् ॥ ७ ॥

यं दुष्टो न हि पश्यति क्षणमपि प्रत्यक्षमेवाऽखिलं
सम्पूर्णावयवं मरीचिनिचयं शिष्टः पुनः पश्यति ।

---

१ (अग्रेतन)वृत्तानामाद्यक्षरै(र्निर्मितः) श्लोकोऽयम् । २ अग्रतः अग्रे भवाः आत्मीयभवाः आभान्ति । ३ यः पार्श्वजिनेश्वरः तत्र विहायसि (नभसि) आस्ते । ४ दृष्टः सन् । ५ सागरदत्ताभिधानस्य । ६ तावत् शंखदेवः । ७ दिगम्बररूपः । ८ कर्तारः । ९ कर्मतापन्नं । १० स्वकीयं स्वरूपं । ११ यः प्रभुः श्रीपार्श्वनाथः । १२ प्रति । १३ पञ्चभिः करैः सह द्वापञ्चाशत् सप्तपञ्चाशत् इत्यर्थः । १४ कथंभूतं शासनं महत् । १५ स जिनः । १६ इयं श्रीमती आदि निषिद्धिका इति च लोकैर्गीयते ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वस्यां दिशि पूर्वमेव पुरुषैः सम्पूज्यते[1] सन्ततं
स *श्रीपार्श्वजिनेश्वरो* दृढयते दिग्वाससां शासनम् ॥ ८ ॥
यः पूर्वं भुवनैकमण्डनमणिः *श्रीविश्वसेनाऽऽदरात्*
निश्चक्राम महोदधेरिव हृदात्सद्वेत्रवत्याऽद्भुतम् ।
क्षुद्रोपद्रव - वर्जितोऽवनितले लोकं नरीनर्त्तयन्
स श्रीशान्तिजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम्[2] ॥९॥
यौगा यं परमेश्वरं हि कपिलं सांख्या निजं[3] योगिनो
बौद्धा बुद्धमजं[4] हरिं द्विजवरा जल्पन्त्युदीच्यां दिशि ।
निश्चीरं[5] वृषलाञ्छनं ऋजुतनुं देवं जटाधारिणं
निर्ग्रन्थं परमं तमाहुरमलं दिग्वाससां शासनम्[6] ॥१०॥
सोपानेषु सकष्टमिष्टसुकृतादारुह्य यान् वन्दति
सौधर्माधिपतिप्रतिष्ठितवपुष्काये जिना[7] विंशतिः ।
प्रख्याः स्वप्रमितिप्रभाभिरतुला *सम्मेदपृथ्वीरुहि*
भव्योऽन्यस्तु[8]न पश्यति ध्रुवमिदं दिग्वाससां शासनम् ॥११॥
पाताले परमादरेण परया भक्त्याऽचितो व्यन्तरै-
र्यो देवैरधिकं स तोषमगमत्कस्या[9]ऽपि पुंसः पुरा ।
भूभृन्मध्यतलादुपर्यनुगतः[10] श्रीपुष्पदन्तः प्रभुः
श्रीमत्पुष्पपुरे विभाति नगरे दिग्वाससां शासनम्[11] ॥१२॥
स्रष्टेति *द्विजनायकैर्हरिरिति* .... *वैश्रवै*
र्बौध्दैर्बुद्ध इति प्रमोदविवशैः *शूलीति माहेश्वरैः* ।
कुष्ठानिष्ट-विनाशनो जनदृशां योऽलक्ष्यमूर्ति[12] र्विभुः
स *श्रीनागहृदेश्वरो* जिनपतिर्दिग्वाससां शासनम्[13] ॥१३॥
यस्याः पाथसि नामविंशतिभिदा पूजाऽष्टधा क्षिप्यते
मंत्रोच्चारण - बन्धुरेण युगपन्निर्ग्रन्थरूपात्मनाम् ।
श्रीमत्तीर्थकृतां यथायथमियं संसंपनीपद्यते
सम्मेदामृतवापिकेयमवतादिग्वाससां शासनम् ॥१४॥
स्मार्त्ताः[14] पाणिपुटोदनादनमिति ज्ञानाय मित्र - द्विषो-
रात्मन्यत्र च साम्यमाहुरसकृन्नैर्ग्रन्थ्यमेकाकितां ।
प्राणि - क्षान्तिमद्वेषतामुपशमं *वेदान्तिकाश्चापरे*[15]
तद्विद्धि प्रथमं पुराण-कलितं दिग्वाससां शासनम्। ।१५॥
यस्य स्नानपयोऽनुलिप्तमखिलं कुष्टं दनीध्वस्यते
सौवर्ण्यस्तवकेशनिर्म्मितमिव क्षेमङ्करं विग्रहम् ।
शश्वद्भक्तिविधायिनां शुभतमं *चन्द्रप्रभः* स प्रभुः
तीरे पश्चिमसागरस्य जयतादिग्वाससां शासनम्[16] ॥१६॥
शुद्धे सिद्धशिलातले सुविमले पञ्चामृतस्नापिते
कर्पूरागुरु - कुंकुमादिकुसुमैरभ्यर्चिते सुन्दरैः ।

---

१ यः सम्पूज्यते । २ प्रति । ३ निजं परमेश्वरं । ४ ब्रह्माणं । ५ अवस्त्रं । ६ प्रति । ७ सन्तीति अध्याहारः । ८ तु पुनः । ९ कस्यचित् । १० सन् । ११ प्रति । १२ सन् । १३ प्रति । १४ स्मृतिपाठकाः । १५ प्राहुः इति क्रिया अत्रापि योज्या । १६ प्रति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फुल्लत्कार - फणापति - स्फुटफटा - रत्नावली - भासुरः
छायापार्श्वविभुः भ भाति जयतादिग्वाससां शासनम्[1] ॥१७॥
क्षाराम्भोधिपयः सुधाद्रव इव प्रत्यक्षमाऽऽस्वाद्यते
.... रसकृत् यच्छायया संभरत् ।
पूतंपूततमः स पञ्चशतको दण्डप्रमाणः प्रभुः
श्रीमानादिजिनेश्वरो स्थिरयते दिग्वाससां शासनम् ॥१८॥
तिर्यञ्चोऽपि नमन्ति यं निज-गिरा गायन्ति भक्त्याशया
दृष्टे[2]यस्य पदद्वये शुभदृशो[3] गच्छन्ति नो दुर्गतिम् ।
देवेन्द्रार्चित - पाद - पङ्कज - युगः पावापुरे पापहा
श्रीमद्वीरजिनः स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥१९॥
सौराष्ट्रे यदुवंश-भूषण-मणेः श्रीनेमिनाथस्य या
मूर्त्तिर्मुक्तिपथोपदेशन - परा शान्ताऽऽयुधाऽपोहनात् ।
वस्त्राभरणैर्विना गिरिवरे[4] देवेन्द्र - संस्थापिता
चित्त-भ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम्[5] ॥२०॥
यस्याऽद्याऽपि सुदुन्दुभि-स्वरमलं पूजां सुराः कुर्वते
भव्य[6]प्रेरित-पुष्प-गन्ध-निचयोऽभ्यारोहति क्ष्मा (भू) तले ।
नित्यं नूतन - पूजयाऽर्चित - तनुः श्रीवासुपूज्योऽवभात्
चम्पायां परमेश्वरः सुखकरो दिग्वाससां शासनम् ॥२१॥
तिर्यग्वेषमुपास्य पश्यत तपो वैशेषिकेना(णा)ऽऽदरात्
भव्योत्सृष्ट - कणैरवश्यमसम - ग्रासं सदा कुर्वता ।
चक्रे घोरमनन्यचीर्णमखिलं कर्म्माऽऽनिहन्तु त्वरा
तत्तेनाऽपि समाश्रितं सुविशदं दिग्वाससां शासनम् ॥२२॥
जैनाभासमतं विधाय कुधिया यैरप्यदो मायया
ह्रस्वारम्भ-ग्रहाश्रयो हि विविधग्रासः स वासा (सां) पतिः ।
भाण्डोद्दण्डकरोऽर्च्यते स च पुनः निर्ग्रन्थलेशस्ततो
युक्त्या तैरपि साधु भाषितमिदं दिग्वाससां शासनम् ॥२३॥
नाऽभुक्तं किल कर्म्मजालमसकृत् संहन्यते जन्मिनां
योगा इत्यवबुध्य भस्म - कलितं देहं जटा - धारिणं ।
मूद्ध्न्यर्थस्थाचरणं च भैक्ष्यमशनं ये चक्रिरे तैरपि
प्रोक्तं हि प्रथमं प्रवन्द्यममलं दिग्वाससां शासनम् ॥२४॥
मूर्त्तिः कर्म्म शुभाऽशुभं हि भविनां भुंक्ते पुनश्चेतनः[7]
शुद्धो[8]निर्मल-निःक्रिया-गुण इहाऽकर्त्तेति सांख्योऽब्रवीत् ।
संसर्गस्तददृष्टरूपजनितस्तेनाऽपि संमन्यते
वै तेनाऽपि समाश्रितं सुविशदं दिग्वाससां शासनम् ॥२५॥
चार्वाकैश्चरितोज्झितैरभिमतो जन्मादि - नाशान्तको[9]
जीवः क्ष्मादिमयस्तथाऽस्य न पुनः स्वर्गापवर्गौ क्वचित् ।

---

१ प्रति । २ सति । ३ सम्यग्दृष्टयः । ४ गिरिनारपर्वते । ५ प्रति । ६ यस्येति अत्रापि सम्बन्धो (सम्बद्धयते इति) ज्ञेयः । ७ आत्मा । ८ शुद्धः सन् । ९ जन्म आदौ यस्य स जन्मादिः । नाशोऽन्ते यस्यासौ नाशान्तः । पश्चात् कर्मधारयः । स्वार्थे कः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्यायाऽऽयातवचोऽनुसार-धिषणैरात्मान्तरं मन्यते
यैस्तैवं(स्तैर्वं)चितमेव देवपरमं दिग्वाससां शासनम् ॥२६॥
श्रीदेवीप्रमुखाभिरर्चितपदाम्भोजः सुरा (मुद्रा)पि क्वचित्
कल्याणेऽत्र निवेशितः पुनरतो नो चालितुं शक्यते ।
यः पूज्यो जलदेवताभिरतुल-सन्नर्मदा-पाथसि
श्रीशान्तिर्विमलं स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥२७॥
पूर्वं या श्रममाजगाम सरितां नाथास्तु दिव्या शिला
तस्यां देवगणान् द्विजस्य दधतस्तस्थौ जिनेशः स्थिरम् ।
कोपाद्विप्रजनावरोधनगरे देवैः प्रपूज्याम्बरे
दध्रे यो मुनिसुव्रतः स जयताद्दिग्वाससां शासनम् ॥२८॥
जा(ज्या)यानामपरिग्रहोऽपि भविनां भूयाद्यदि श्रेयसे
तत्कस्यास्ति न सोऽधमोऽपि विधिना ह्यस्वस्तदर्थं मतः ।
क्षीणारम्भपरिग्रहं शिवपदं को वा न वा मन्यते
इत्याऽऽलौकिकभाषितं विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥२९॥
सिक्ते सत्सरितोऽम्बुभिः शिखरिणः सम्पूज्य देशे वरे
सानन्दं विपुलस्य शुद्धहृदयैरित्येव भव्यैः स्थितैः ।
निर्ग्रन्थं परमर्हतो यदमलं बिम्बं दरीदृश्यते
यावद्द्वादशयोजनानि तदिदं दिग्वाससां शासनम् ॥३०॥
धर्माऽधर्म-शरीर-जन्य-जनक-स्वर्गापवर्गादिके
सर्वस्मिन् क्षणिके न कस्यचिदहो तद्बन्ध-मोक्ष-क्षणः ।
इत्याऽऽलोच्य सुनिर्मलेन मनसा तेनाऽपि यन्मन्यते
बौद्धेनाऽऽत्मनिबन्धनं हि तदिदं दिग्वाससां शासनम् ॥३१॥
यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो भक्तिं नरस्याऽधुना
तत्कालं जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालयाः ।
प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशो देवेश्वराऽभ्यर्चिता
विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम् ॥३२॥
आस्ते सम्प्रति मेदपाटविषये ग्रामो गुणग्रामभू-
र्नाम्ना नागफणीति तत्र कृषता लब्धा शिला केनचित् ।
स्वप्नं वृद्धमहार्जिकामिह ददौ स्वाकारनिर्मापणे
स श्रीमल्लिजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥३३॥
श्रीमन्मालवदेश-मङ्गलपुरे म्लेच्छैः प्रतापागतैः
भग्ना मूर्त्तिरथोऽभियोजित-शिराः सम्पूर्णतामाऽऽययौ ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः
स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयते दिग्वाससां शासनम् ॥३४॥

इतिहि मदनकीर्तिश्चिन्तयन्नाऽऽत्मचित्ते
विगलति सति रात्रेस्तुर्यभागार्द्धभागे ।
कपट-शत-विलासान् दुष्टवागन्धकारान्
जयति विहरमाणः साधुराजीव-बन्धुः ॥३५॥

इति शासनचतुस्त्रिंशिका (चतुस्त्रिंशिका) समाप्ता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धसेन-स्वयम्भूस्तुतिः

[प्रथमा द्वात्रिंशिका]

(उपजातिः)

स्वयम्भुवं भूत-सहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षर-भाव-लिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहत-विश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥ १ ॥
समन्त-सर्वाक्ष-गुणं निरक्षं स्वयम्प्रभं सर्वगताऽवभासम् ।
अतीत-संख्यानमनन्तकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥ २ ॥
कुहेतु-तर्कोपरत-प्रपञ्च-सद्भाव-शुद्धाऽप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासन-वर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥ ३ ॥
न काव्य-शक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीर-कीर्ति-प्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञ-पूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥ ४ ॥
परस्पराक्षेप-विलुप्त-चेतसः स्ववाद-पूर्वोऽपर-मूढ-निश्चयान् ।
समीक्ष्य तत्त्वोत्पथिकान् कुवादिनः कथं पुमान् स्याच्छिथिलादरस्त्वयि ॥५॥
वदन्ति यानेव गुणान्धचेतसः समेत्य दोषान् किल ते स्वविद्विषः ।
त एव विज्ञान-पथागताः सतां त्वदीय-सूक्त-प्रतिपत्ति-हेतवः ॥ ६ ॥
कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांस-दानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ ७ ॥
जनोऽयमन्यः करुणात्मकैरपि स्वनिश्चित-क्लेश-विनाश-काहलैः ।
विकुत्सयंस्त्वद्वचनाऽमृतौषधं न शान्तिमाप्नोति भवार्ति-विक्लवः ॥ ८ ॥
प्रपञ्चित-क्षुल्लक-तर्क-शासनैः पर-प्रणेयाऽल्पमतिर्भवासनैः ।
त्वदीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः कथं नु न स्यात्सुचिरं जनोऽजनः ॥ ९ ॥
परस्परं क्षुद्रजनः प्रतीपगानिहैव दण्डेन युनक्ति वा न वा ।
निरागसस्त्वत्प्रतिकूलवादिनो दहन्त्यमुत्रेह च जाल्मवादिनः ॥१०॥
अविद्यया चेद्युगपद्विलक्षणं क्षणादि कृत्स्नं न विलोक्यते जगत् ।
ध्रुवं भवद्वाक्यविलोमदुर्नयांश्चिरानुगांस्तानुपगूह्य शेरते ॥११॥
समृद्धपत्रा अपि सच्छिखण्डिनो यथा न गच्छन्ति गतं गरुत्मतः ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गतं यातुमलं प्रवादिनः ॥१२॥
य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।
अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥
वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं पराऽनुकम्पासफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञ-विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादि-पार्थिवाः ॥१५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदा न संसार-विकार-संस्थितिर्विगाह्यते त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः ।
शठैस्तदा सज्जनवल्लभोत्सवो न किञ्चिदस्तीत्यभयैः प्रबोधितः ॥१६॥
स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा यथाऽन्यशिष्याः स्वरुचि-प्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विस्मयः ॥१७॥
नय-प्रसङ्गाऽपरिमेयविस्तरैरनेकभङ्गाऽभिगमार्थ-पेशलैः ।
अकृत्रिम-स्वादुपदैर्जनं जनं जिनेन्द्र सान्त्वादिव पासि भाषितैः ॥१८॥
विलक्षणानामविलक्षणा सती त्वदीयमाहात्म्य-विशेष-सम्भली ।
मनांसि वाचामपि मोहपिच्छलान्युपेत्य तेऽत्यद्भुत भाति भारती ॥१९॥
असत्सदेवेति परस्पर-द्विषः प्रवादिनः कारण-कार्य-तार्किणः ।
तुदन्ति यान् वाग्विषकण्टकान्न तैर्भवाननेकान्त-शिवोक्तिरर्यत ॥२०॥
निसर्ग-नित्य-क्षणिकार्थ-वादिनः तथा महत्सूक्ष्म-शरीर-दर्शिनः ।
यथा न सम्यङ्मतयस्तथा मुने भवाननेकान्त-विनीतमुक्तवान् ॥२१॥
मुखं जगद्धर्मविविक्ततां परे वदन्ति तेष्वेव च यान्ति गौरवम् ।
त्वया तु येनैव मुखेन भाषितं तथैव ते वीर गतं सुतैरपि ॥२२॥
तपोभिरेकान्त-शरीर-पीडनैर्व्रताऽनुबन्धैः श्रुत-सम्पदाऽपि वा ।
त्वदीय-वाक्य-प्रतिबोध-पेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि ॥२३॥
न राग-निर्भर्त्सन-यन्त्रमीदृशं त्वदन्यदग्भिश्चलितं विगाहितम् ।
यथेयमन्तःकरणोपयुक्तता बहिश्च चित्रं कलिलासनं तपः ॥२४॥
विराग-हेतु-प्रभवं न चेत्सुखं न नाम तत्किञ्चिदिति स्थिता वयम् ।
स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति न त्वदन्यतः स त्वयि येन केवलः ॥२५॥
न कर्म कर्तारमतीत्य वर्तते य एव कर्ता स फलान्युपाश्नुते ।
तदष्टधा पुद्गल-मूर्ति-कर्मजं यथात्थ नैवं भुवि कश्चनाऽपरः ॥२६॥
न मानसं कर्म न देहवाङ्मयं शुभाऽशुभ-ज्येष्ठ-फलं विभागशः ।
यदात्थ तेनैव समीक्ष्य-कारिणः शरण्य सन्तस्त्वयि नाथ बुद्धयः ॥२७॥
यदा न कोपादि-वियुक्त लक्षणं न चाऽपि कोपादि-समस्त-लक्षणम् ।
त्वमात्थ सत्त्वं परिणाम-लक्षणं तदेव ते वीर विबुद्धलक्षणम् ॥२८॥
क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रिया विहीनां च विबोध-सम्पदम् ।
निरस्यता क्लेश-समूह-शान्तये त्वया शिवायाऽऽलिखितेव पद्धतिः ॥२९॥
सुनिश्चितं नः परतन्त्र-युक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चनसूक्त सम्पदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिन वाक्यविप्रुषः ॥३०॥
शताध्वराद्या लवसप्तमोत्तमाः सुरर्षभा दृष्टपरापरास्त्वया ।
त्वदीय-योगाऽऽगम-मुग्ध शक्तयस्त्यजन्ति मानं सुरलोकजन्मजम् ॥३१॥

(शिखरिणी)

जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृतिरस-सिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुणकथोत्का वयमपि ॥३२॥

इति श्रीसिद्धसेनाचार्य-प्रणीत-स्वयम्भूस्तुतिः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन

[श्रीजुगलकिशोर मुख्तार]

'सन्मतिसूत्र' जैनवाङ्मयमें एक महत्वका गौरवपूर्ण ग्रन्थरत्न है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माना जाता है। श्वेताम्बरोंमें यह 'सम्मतितर्क', 'सम्मतितर्कप्रकरण' तथा 'सम्मतिप्रकरण' जैसे नामोंसे अधिक प्रसिद्ध है, जिनमें 'सन्मति'की जगह 'सम्मति' पद अशुद्ध है और वह प्राकृत 'सम्मइ' पदका गलत संस्कृत रूपान्तर है। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने, ग्रन्थका गुजराती अनुवाद प्रस्तुत करते हुए, प्रस्तावनामें इस गलतीपर यथेष्ट प्रकाश डाला है और यह बतलाया है कि 'सन्मति' भगवान् महावीरका नामान्तर है, जो दिगम्बर-परम्परामें प्राचीनकालसे प्रसिद्ध तथा 'धनञ्जयनाममाला'में भी उल्लेखित है, ग्रन्थ-नामके साथ उसकी योजना होनेसे वह महावीरके सिद्धान्तोंके साथ जहाँ ग्रन्थके सम्बन्धको दर्शाता है वहाँ श्लेषरूपसे श्रेष्ठमति अर्थका सूचन करता हुआ ग्रन्थकर्ताके योग्य स्थानको भी व्यक्त करता है और इसलिये औचित्यकी दृष्टिसे 'सम्मति'के स्थानपर 'सन्मति' नाम ही ठीक बैठता है। तदनुसार ही उन्होंने ग्रन्थका नाम 'सन्मति-प्रकरण' प्रकट किया है। दिगम्बर-परम्पराके धवलादिक प्राचीन ग्रन्थोंमें यह सन्मतिसूत्र (सम्मइसुत्त) नामसे ही उल्लेखित मिलता है[1] और यह नाम सन्मति-प्रकरण नामसे भी अधिक औचित्य रखता है; क्योंकि इसकी प्रायः प्रत्येक गाथा एक सूत्र है अथवा अनेक सूत्रवाक्योंको साथमें लिये हुए है। पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावना (पृ० ९३)में इस बातको स्वीकार किया है कि 'सम्पूर्ण सन्मति ग्रन्थ सूत्र कहा जाता है और इसकी प्रत्येक गाथाको भी सूत्र कहा गया है।' भावनगरकी श्वेताम्बर सभासे वि० सं० १९६५में प्रकाशित मूलप्रतिमें भी "श्रीसंमतिसूत्रं समाप्तमिति भद्रम्" वाक्यके द्वारा इसे सूत्र नामके साथ ही प्रकट किया है—तर्क अथवा प्रकरण नामके साथ नहीं।

इसकी गणना जैनशासनके दर्शन-प्रभावक ग्रन्थोंमें है। श्वेताम्बरोंके 'जीतकल्पचूर्णि' ग्रन्थकी श्रीचन्द्रसूरि-विरचित 'विषमपदव्याख्या' नामकी टीकामें श्रीअकलङ्कदेवके 'सिद्धि-विनिश्चय' ग्रन्थके साथ इस 'सन्मति' ग्रन्थका भी दर्शन-प्रभावक ग्रन्थोंमें नामोल्लेख किया गया है और लिखा है कि 'ऐसे दर्शनप्रभावक शास्त्रोंका अध्ययन करते हुए साधुको अकल्पित प्रतिसेवनाका दोष भी लगे तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है, वह साधु शुद्ध है।' यथा—

"दंसण त्ति–दंसण-पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मत्यादि गिण्हंतोऽसंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवइ जयणाए तत्थ सो सुद्धोऽप्रायश्चित्त इत्यर्थः[2]।"

इससे प्रथमोल्लेखित सिद्धिविनिश्चयकी तरह यह ग्रन्थ भी कितने असाधारण महत्वका है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसे ग्रन्थ जैनदर्शनकी प्रतिष्ठाको स्व-पर हृदयोंमें अङ्कित करनेवाले होते हैं। तदनुसार यह ग्रन्थ भी अपनी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये हुए है।

---

१ "अणेण सम्मइसुत्तेण सह कथमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे? इदि ण, तत्थ पज्जायस्स लक्खणं खइणो भावब्भुवगमादो।" (धवला १)

[1] ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो उजुसुद-णय विसय-भावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो।" (जयधवला १)

२ श्वेताम्बरोंके निशीथ ग्रन्थकी चूर्णिमें भी ऐसा ही उल्लेख है:—

"दंसणगाही-दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थके तीन विभाग हैं जिन्हें 'काण्ड' संज्ञा दी गई है। प्रथम काण्डको कुछ हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियोंमें 'नयकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "नयकण्डं सम्मत्तं"—और यह ठीक ही है; क्योंकि सारा काण्ड नयके ही विषयको लिये हुए है और उसमें द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दो नयोंको मूलाधार बनाकर और यह बतलाकर कि 'तीर्थङ्कर वचनोंके सामान्य और विशेषरूप प्रस्तारके मूलप्रतिपादक ये ही दो नय हैं—शेष सब नय इन्हींके विकल्प हैं'[१], उन्हींके भेद-प्रभेदों तथा विषयका अच्छा सुन्दर विवेचन और संसूचन किया गया है। दूसरे काण्डको उन प्रतियोंमें 'जीवकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "जीवकंडयं सम्मत्तं"। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीकी रायमें यह नामकरण ठीक नहीं है, इसके स्थानपर 'ज्ञानकाण्ड' या 'उपयोगकाण्ड' नाम होना चाहिये; क्योंकि इस काण्डमें, उनके कथनानुसार जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है—पूर्ण तथा मुख्य चर्चा ज्ञानकी है। यह ठीक है कि इस काण्डमें ज्ञानकी चर्चा एक प्रकारसे मुख्य है परन्तु वह दर्शनकी चर्चाको भी साथ लिये हुए है—उसीसे चर्चाका प्रारम्भ है—और ज्ञान-दर्शन दोनों जीवद्रव्यकी पर्याय हैं, जीवद्रव्यसे भिन्न उनकी कहीं कोई सत्ता नहीं, और इसलिये उनकी चर्चाको जीवद्रव्यकी ही चर्चा कहा जासकता है। फिर भी ऐसा नहीं है कि इसमें प्रकटरूपसे जीवतत्त्वकी कोई चर्चा ही न हो—दूसरी गाथामें 'दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होई' इत्यादिरूपसे जीवद्रव्यका कथन किया गया है, जिसे पं. सुखलालजी आदिने भी अपने अनुवादमें "आत्मा दर्शन वखते" इत्यादिरूपसे स्वीकार किया है। अनेक गाथाओंमें कथन-सम्बन्धको लिये हुए सर्वज्ञ, केवली, अर्हन्त तथा जिन जैसे अर्थपदोंका भी प्रयोग है जो जीवके ही विशेष हैं। और अन्तकी 'जीवो अणाइ-णिहणो'से प्रारम्भ होकर 'अण्णे वि य जीवपज्जाया' पर समाप्त होनेवाली सात गाथाओंमें तो जीवका स्पष्ट ही नामोल्लेखपूर्वक कथन है—वही चर्चाका विषय बना हुआ है। ऐसी स्थितिमें यह कहना समुचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस काण्डमें जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है' और न 'जीवकाण्ड' इस नामकरणको सर्वथा अनुचित अथवा अयथार्थ ही कहा जा सकता है। कितने ही ग्रन्थोंमें ऐसी परिपाटी देखनेमें आती है कि पर्व तथा अधिकारादिके अन्तमें जो विषय चर्चित होता है उसीपरसे उस पर्वादिकका नामकरण किया जाता है[२], इस दृष्टिसे भी काण्डके अन्तमें चर्चित जीवद्रव्यकी चर्चाके कारण उसे 'जीवकाण्ड' कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। अब रही तीसरे काण्डकी बात, उसे कोई नाम दिया हुआ नहीं मिलता। जिस किसीने दो काण्डोंका नामकरण किया है उसने तीसरे काण्डका भी नामकरण जरूर किया होगा, सम्भव है खोज करते हुए किसी प्राचीन प्रतिपरसे वह उपलब्ध हो जाए। डा० पी० एल० वैद्य एम० ए०ने, न्यायावतारकी प्रस्तावना (Introduction)में, इस काण्डका नाम असन्दिग्धरूपसे 'अनेकान्तवादकाण्ड' प्रकट किया है। मालूम नहीं यह नाम उन्हें किस प्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है। काण्डके अन्तमें चर्चित विषयादिककी दृष्टिसे यह नाम भी ठीक हो सकता है। यह काण्ड अनेकान्तदृष्टिको लेकर अधिकांशमें सामान्य-विशेषरूपसे अर्थकी प्ररूपणा और विवेचनाको लिये हुए है, और इसलिये इसका नाम 'सामान्य-विशेषकाण्ड' अथवा 'द्रव्य-पर्याय-काण्ड' जैसा भी कोई हो सकता है। पं. सुखलालजी और पं० बेचरदास जीने इसे 'ज्ञेय-काण्ड' सूचित किया है, जो पूर्व-काण्डको 'ज्ञानकाण्ड' नाम देने और दोनों काण्डोंके नामोंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत प्रवचनसारके ज्ञान-ज्ञेयाधिकारनामोंके साथ समानता लानेकी दृष्टिसे सम्बद्ध जान पड़ता है।

---

१ तित्थयर-वयण-संगह-विसेस-पत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥३॥

२ जैसे जिनसेनकृत हरिवंशपुराणके तृतीय सर्गका नाम 'श्रेणिकप्रश्नवर्णन', जब कि प्रश्नके पूर्वमें वीरके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थकी गाथा-संख्या ५४, ४३, ७०के क्रमसे कुल १६७ है। परन्तु पं० सुखलाल-जी और पं० बेचरदासजी उसे अब १६६ मानते हैं; क्योंकि तीसरे काण्डमें अन्तिम गाथाके पूर्व जो निम्न गाथा लिखित तथा मुद्रित मूलप्रतियोंमें पाई जाती है उसे वे इसलिये बादको प्रक्षिप्त हुई समझते हैं कि उसपर अभयदेवसूरिकी टीका नहीं है:—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥ ६९ ॥

इसमें बतलाया है कि 'जिसके बिना लोकका व्यवहार भी सर्वथा बन नहीं सकता उस लोकके अद्वितीय (असाधारण) गुरु अनेकान्तवादको नमस्कार हो।' इस तरह जो अनेकान्तवाद इस सारे ग्रन्थकी आधार-शिला है और जिसपर उसके कथनोंकी ही पूरी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित नहीं है बल्कि उस जिनवचन, जैनागम अथवा जैनशासनकी भी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित है जिसकी अगली (अन्तिम) गाथामें मङ्गल-कामना की गई है और ग्रन्थकी पहली (आदिम) गाथामें जिसे 'सिद्धशासन' घोषित किया गया है, उसीकी गौरव-गरिमाको इस गाथामें अच्छे युक्तिपुरस्सर ढङ्गसे प्रदर्शित किया गया है। और इसलिये यह गाथा अपनी कथनशैली और कुशल-साहित्य-योजनापरसे ग्रन्थका अङ्ग होनेके योग्य जान पड़ती है तथा ग्रन्थकी अन्त्य मङ्गल-कारिका मालूम होती है। इसपर एकमात्र अमुक टीकाके न होनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि वह मूलकारके द्वारा योजित न हुई होगी; क्योंकि दूसरे ग्रन्थोंकी कुछ टीकाएँ ऐसी भी पाई जाती हैं जिनमेंसे एक टीकामें कुछ पद्य मूलरूपमें टीका-सहित हैं तो दूसरीमें वे नहीं पाये जाते[1] और इसका कारण प्रायः टीकाकारको ऐसी मूलप्रतिका ही उपलब्ध होना कहा जा सकता है जिसमें वे पद्य न पाये जाते हों। दिगम्बराचार्य सुमति (सन्मति) देवकी टीका भी इस ग्रन्थपर बनी है, जिसका उल्लेख वादिराजने अपने पार्श्वनाथ-चरित (शक सं० ९४७) के निम्न पद्यमें किया है:—

नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप-निपातिनाम्। सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी॥

यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं है—खोजका कोई खास प्रयत्न भी नहीं हो सका। इसके सामने आनेपर उक्त गाथा तथा और भी अनेक बातोंपर प्रकाश पड़ सकता है; क्योंकि यह टीका सुमतिदेवकी कृति होनेसे ११वीं शताब्दीके श्वेताम्बरीय आचार्य अभयदेवकी टीकासे कोई तीन शताब्दी पहलेकी बनी हुई होनी चाहिये। श्वेताम्बराचार्य मल्लवादीकी भी एक टीका इस ग्रन्थपर पहले बनी है, जो आज उपलब्ध नहीं है और जिसका उल्लेख हरिभद्र तथा उपाध्याय यशोविजयके ग्रन्थोंमें मिलता है[2]।

इस ग्रन्थमें विचारको दृष्टि प्रदान करनेके लिये, प्रारम्भसे ही द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) दो मूल नयोंको लेकर नयका जो विषय उठाया गया है वह प्रकारान्तरसे दूसरे तथा तीसरे काण्डमें भी चलता रहा है और उसके द्वारा नयवादपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यहाँ नयका थोड़ा-सा कथन नमूनेके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है, जिससे पाठकोंको इस विषयकी कुछ झाँकी मिल सके:—

---

१ जैसे समयसारादिग्रन्थोंकी अमृतचन्द्रसूरिकृत तथा जयसेनाचार्यकृत टीकाएँ, जिनमें कतिपय गाथाओंकी न्यूनाधिकता पाई जाती है।

२ "उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ" (अनेकान्तजयपताका)
"इहार्थे कोटिशा भंगा निर्दिष्टा मल्लवादिना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमकाण्डमें दोनों नयोंके सामान्य-विशेष-विषयको मिश्रित दिखलाकर उस मिश्रितपनाकी चर्चाका उपसंहार करते हुए लिखा है—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

'अतः कोई द्रव्यार्थिक नय ऐसा नहीं जो नियमसे शुद्धजातीय हो—अपने प्रतिपक्षी पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे मुक्त हो। इसी तरह पर्यायार्थिक नय भी कोई ऐसा नहीं जो शुद्धजातीय हो—अपने विपक्षी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे रहित हो। विवक्षाको लेकर ही दोनोंका भेद है—विवक्षा मुख्य-गौणके भावको लिये हुए होती है, द्रव्यार्थिकमें द्रव्य-सामान्य मुख्य और पर्याय-विशेष गौण होता है और पर्यायार्थिकमें विशेष मुख्य तथा सामान्य-गौण होता है।'

इसके बाद बतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिकनयका वक्तव्य (विशेष) अवस्तु है। पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें सर्व पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है। द्रव्य पर्याय(उत्पाद-व्यय)के विना और पर्याय द्रव्य(ध्रौव्य)के विना नहीं होते; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य—सत्का अद्वितीय लक्षण हैं[1]। ये तीनों एक दूसरेके साथ मिलकर ही रहते हैं, अलग-अलगरूपमें ये द्रव्य (सत्)के कोई लक्षण नहीं होते और इसलिये दोनों मूल नय अलग-अलगरूपमें—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। तीसरा कोई मूलनय नहीं है[2] और ऐसा भी नहीं कि इन दोनों नयोंमें यथार्थपना न समाता हो—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको पूर्णतः प्रतिपादन करनेमें ये असमर्थ हों—; क्योंकि दोनों एकान्त (मिथ्यादृष्टियाँ) अपेक्षाविशेषको लेकर ग्रहण किये जाते ही अनेकान्त (सम्यग्दृष्टि) बन जाते हैं। अर्थात् दोनों नयोंमेंसे जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत्रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमें पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थरूपसे अपने विषय (वक्तव्य)का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्णरूपमें नहीं) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता है। इस सब आशयकी पाँच गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

दव्वट्ठिय-वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥ १० ॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ११ ॥
दव्वं पज्जव-विउयं दव्व-वियुत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

---

१ "पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१-१२॥"
—पञ्चास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दः।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥ —तत्त्वार्थसूत्र अ० ५।

२ तीसरे काण्डमें गुणार्थिक (गुणास्तिक) नयकी कल्पनाको उठाकर स्वयं उसका निरसन किया गया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेएहं पि ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी पत्तेयं दो वि मूल-णया ॥१३॥
ण य तइयो अत्थि णयो ण य सम्मत्तं तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंता ॥१४॥

इन गाथाओंके अनन्तर उत्तर नयोंकी चर्चा करते हुए और उन्हें भी मूलनयोंके समान दुर्नय तथा सुनय प्रतिपादन करते हुए और यह बतलाते हुए कि किसी भी नयका एकमात्र पक्ष लेनेपर संसार, सुख, दुख, बन्ध और मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, सभी नयोंके मिथ्या तथा सम्यक् रूपको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

'अतः सभी नय—चाहे वे मूल या उत्तरोत्तर कोइ भी नय क्यों न हों—जो एकमात्र अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने—प्रतिपादन करनेमें असमर्थ हैं। परन्तु जो नय परस्परमें अपेक्षाको लिये हुए प्रवर्तते हैं वे सब सम्यग्दृष्टि हैं—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने-प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

तीसरे काण्डमें, नयवादकी चर्चाको एक दूसरे ही ढङ्गसे उठाते हुए, नयवादके परिशुद्ध और अपरिशुद्ध ऐसे दो भेद सूचित किये हैं, जिनमें परिशुद्ध नयवादको आगममात्र अर्थका—केवल श्रुतप्रमाणके विषयका—साधक बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि परिशुद्धनयवाद सापेक्षनयवाद होनेसे अपने पक्षका—अंशोंका—प्रतिपादन करता हुआ परपक्षका—दूसरे अंशों—का निराकरण नहीं करता और इसलिये दूसरे नयवादके साथ विरोध न रखनेके कारण अन्तको श्रुतप्रमाणके समग्र विषयका ही साधक बनता है। और अपरिशुद्ध नयवादको 'दुर्निक्षिप्त' विशेषणके द्वारा उल्लेखित करते हुए स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनोंका विघातक लिखा है और यह भी ठीक ही है; क्योंकि वह निरपेक्षनयवाद होनेसे एकमात्र अपने ही पक्षका प्रतिपादन करता हुआ अपनेसे भिन्न पक्षका सर्वथा निराकरण करता है—विरोधवृत्ति होनेसे उसके द्वारा श्रुतप्रमाणका कोई भी विषय नहीं सधता और इस तरह वह अपना भी निराकरण कर बैठता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिए कि वस्तुका पूर्णरूप अनेक सापेक्ष अंशों धर्मोंसे निर्मित है जो परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए है, एकके अभावमें दूसरेका अस्तित्व नहीं बनता, और इसलिये जो नयवाद परपक्षका सर्वथा निषेध करता है वह अपना भी निषेधक होता है—परके अभावमें अपने स्वरूपको किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

नयवादके इन भेदों और उनके स्वरूपनिर्देशके अनन्तर बतलाया है कि 'जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने (अपरिशुद्ध अथवा परस्परनिरपेक्ष एवं विरोधी) नयवाद हैं उतने परसमय—जैनेतरदर्शन—हैं। उन दर्शनोंमें कपिलका सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नयका वक्तव्य है। शुद्धोदनके पुत्र बुद्धका दर्शन परिशुद्ध पर्यायनयका विकल्प है। उलूक अर्थात् कणादने अपना शास्त्र (वैशेषिक दर्शन) यद्यपि दोनों नयोंके द्वारा प्ररूपित किया है फिर भी वह मिथ्यात्व है—अप्रमाण है; क्योंकि ये दोनों नयदृष्टियाँ उक्त दर्शनमें अपने अपने विषयकी प्रधानताके लिये परस्परमें एक दूसरेकी कोई अपेक्षा नहीं रखतीं।' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

परिसुद्धो णयवाओ आगमभेत्तत्थ-साधको होइ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥४७॥
जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।
सुद्धोअण-तणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥४८॥
दोहि वि णएहि णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥४९॥

इनके अनन्तर निम्न दो गाथाओंमें यह प्रतिपादन किया है कि 'सांख्योंके सद्वाद-पक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें सांख्य जन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं— सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जायँ—समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमें परिणत हो जायँ—तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत्रूप दोनों दृष्टियाँ अलग अलग संसारके दुःखसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे शान्ति मिल सकती है:—

जे संतवाय-दोसे सकोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असब्भाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति ।
जं भव-दुक्ख-विमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥५१॥

इस सब कथनपरसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनका तत्त्व सहज ही समझमें आजाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर परविरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक वे सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं और जैनदर्शन कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने स्याद्वादन्याय-द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है, न कि विरोध—और इसलिये सभी मिथ्या-दर्शन अपने अपने विरोधको भुलाकर उसमें समा जाते हैं। इसीसे ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिनवचनरूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मङ्गलकामना करते हुए उसे 'मिथ्या-दर्शनोंका समूहमय' बतलाया है। वह गाथा इस प्रकार है:—

भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ॥
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥७०॥

इसमें जैनदर्शन (शासन)के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण मिथ्यादर्शनसमूहमय, दूसरा अमृतसार और तीसरा संविग्नसुखाधिगम्य है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्ष नयवादमें सन्निहित है—सापेक्ष नय मिथ्या नहीं होते, निरपेक्ष नय ही मिथ्या होते हैं[1]। जब सारी विरोधी दृष्टियाँ एकत्र स्थान पाती हैं तब फिर

१ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनमें विरोध नहीं रहता और वह सहज ही कार्य-साधक बन जाती हैं। इसीपरसे दूसरा विशेषण ठीक घटित होता है, जिसमें उसे अमृतका अर्थात् भवदुःखके अभावरूप अविनाशी मोक्षका प्रदान करनेवाला बतलाया है; क्योंकि वह सुख अथवा भवदुःखविनाश मिथ्यादर्शनोंसे प्राप्त नहीं होता, इसे हम ५१वीं गाथासे जान चुके हैं। तीसरे विशेषणके द्वारा यह सुझाया गया है कि जो लोग संसारके दुःखों-क्लेशोंसे उद्विग्न होकर संवेगको प्राप्त हुए हैं—सच्चे मुमुक्षु बने हैं—उनके लिये जैनदर्शन अथवा जिनशासन सुखसे समझमें आने योग्य है—कोई कठिन नहीं है। इससे पहले ६४वीं गाथामें 'अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा' वाक्यके द्वारा सूत्रोंकी जिस अर्थगतिको नयवादके गहन-वनमें लीन और दुरभिगम्य बतलाया था उसीको ऐसे अधिकारियोंके लिये यहाँ सुगम घोषित किया गया है, यह सब अनेकान्तदृष्टिकी महिमा है। अपने ऐसे गुणोंके कारण ही जिनवचन भगवत्पदको प्राप्त है—पूज्य है।

ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिस प्रकार जिनशासनका स्मरण किया गया है उसी प्रकार वह आदिम गाथामें भी किया गया है। आदिम गाथामें किन विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है यह भी पाठकोंके जानने योग्य है और इसलिये उस गाथाको भी यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमय-विसाणं सासणं जिणाणं भव-जिणाणं ॥१॥

इसमें भवको जीतनेवाले जिनों-अर्हन्तोंके शासन-आगमके चार विशेषण दिये गये हैं—१ सिद्ध, २ सिद्धार्थोंका स्थान, ३ शरणागतोंके लिये अनुपम सुखस्वरूप, ४ कुसमयों-एकान्तवादरूप मिथ्यामतोंका निवारक। प्रथम विशेषणके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जैनशासन अपने ही गुणोंसे आप प्रतिष्ठित है। उसके द्वारा प्रतिपादित सब पदार्थ प्रमाणसिद्ध हैं—कल्पित नहीं हैं—यह दूसरे विशेषणका अभिप्राय है और वह प्रथम विशेषण सिद्धत्वका प्रधान कारण भी है। तीसरा विशेषण बहुत कुछ स्पष्ट है और उसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जो लोग वास्तवमें जैनशासनका आश्रय लेते हैं उन्हें अनुपम मोक्ष-सुख तककी प्राप्ति होती है। चौथा विशेषण यह बतलाता है कि जैनशासन उन सब कुशासनों-मिथ्यादर्शनोंके गर्वको चूर-चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है जो सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनारूढ बने हुए हैं और मिथ्यातत्त्वोंके प्ररूपण-द्वारा जगतमें दुःखोंका जाल फैलाये हुए हैं।

इस तरह आदि-अन्तकी दोनों गाथाओंमें जिनशासन अथवा जिनवचन (जैनागम) के लिये जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है उनसे इस शासन(दर्शन)का असाधारण महत्त्व और माहात्म्य ख्यापित होता है। और यह केवल कहनेकी ही बात नहीं है बल्कि सारे ग्रन्थमें इसे प्रदर्शित करके बतलाया गया है। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'अज्ञान-अन्धकारकी व्याप्ति(प्रसार)को जैसे भी बने दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको जो प्रकाशित करना है उसीका नाम प्रभावना है'। 'यह ग्रन्थ अपने विषय-वर्णन और विवेचनादिके द्वारा इस प्रभावनाका बहुत कुछ साधक है और इसीलिये उसकी भी गणना प्रभावक-ग्रन्थोंमें की गई है। यह ग्रन्थ जैनदर्शनका अध्ययन करनेवालों और जैनदर्शनसे जैनेतर दर्शनोंके भेद-को ठीक अनुभव करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये बड़े कामकी चीज है और उनके द्वारा खास मनोयोगके साथ पढ़े जाने तथा मनन किये जानेके योग्य है। इसमें अनेकान्तके अङ्गस्वरूप जिस नयवादकी प्रमुख चर्चा है और जिसे एक प्रकारसे 'दुरभिगम्य गहन-वन'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बतलाया गया है—अमृतचन्द्रसूरिने भी जिसे 'गहन' और 'दुरासद' लिखा है[1]—उसपर जैन वाङ्मयमें कितने ही प्रकरण अथवा 'नयचक्र' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी निर्मित हैं, उनका साथ-में अध्ययन अथवा पूर्व-परिचय भी इस ग्रन्थके समुचित अध्ययनमें सहायक है। वास्तवमें यह ग्रन्थ सभी तत्त्वजिज्ञासुओं एवं आत्महितैषियोंके लिये उपयोगी है। अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। वीरसेवामन्दिरका विचार उसे प्रस्तुत करनेका है।

[क] ग्रन्थकार सिद्धसेन और उनकी दूसरी कृतियां—

इस 'सन्मति' ग्रन्थके कर्ता आचार्य सिद्धसेन हैं इसमें किसीको भी कोई विवाद नहीं है। अनेक ग्रन्थोंमें ग्रन्थनामके साथ सिद्धसेनका नाम उल्लेखित है और इस ग्रन्थके वाक्य भी सिद्धसेन-नामके साथ उद्धृत मिलते हैं; जैसे जयधवलामें आचार्य वीरसेनने 'णामट्ठवणा दवियं' नामकी छठी गाथाको "उक्तं च सिद्धसेणेण" इस वाक्यके साथ उद्धृत किया है और पञ्चवस्तुमें आचार्य हरिभद्रने 'आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं" वाक्यके द्वारा 'सन्मति'को सिद्धसेनकी कृतिरूपमें निर्दिष्ट किया है, साथ ही 'कालो सहाव णियई' नामकी एक गाथा भी उसकी उद्धृत की है। परन्तु ये सिद्धसेन कौन हैं—किस विशेष परिचय-को लिये हुए हैं? कौनसे सम्प्रदाय अथवा आम्नायसे सम्बन्ध रखते हैं?, इनके गुरु कौन थे? इनकी दूसरी कृतियाँ कौन-सी हैं? और इनका समय क्या है? ये सब बातें ऐसी हैं जो विवादका विषय जरूर हैं। क्योंकि जैनसमाजमें सिद्धसेन नामके अनेक आचार्य और प्रखर तार्किक विद्वान् भी हो गये हैं और इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने अपना कोई परिचय दिया नहीं, न रचनाकाल ही दिया है—ग्रन्थकी आदिम गाथामें प्रयुक्त हुए 'सिद्धं' पदके द्वारा श्लेषरूपमें अपने नामका सूचनमात्र किया है, इतना ही समझा जा सकता है। कोई प्रशस्ति भी किसी दूसरे विद्वानके द्वारा निर्मित होकर ग्रन्थके अन्तमें लगी हुई नहीं है। दूसरे जिन ग्रन्थों—खासकर द्वात्रिंशिकाओं तथा न्यायावतार—को इन्हीं आचार्यकी कृति समझा जाता और प्रतिपादन किया जाता है उनमें भी कोई परिचय-पद्य तथा प्रशस्ति नहीं है और न कोई ऐसा स्पष्ट प्रमाण अथवा युक्तिवाद ही सामने लाया गया है जिससे उन सब ग्रन्थोंको एक ही सिद्धसेन-कृत माना जा सके। और इसलिये अधिकांशमें कल्पनाओं तथा कुछ भ्रान्त धारणाओंके आधारपर ही विद्वान् लोग उक्त बातोंके निर्णय तथा प्रतिपादनमें प्रवृत्त होते रहे हैं, इसीसे कोई भी ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो पाया—वे विवादापन्न ही चली जाती हैं और सिद्धसेनके विषयमें जो भी परिचय-लेख लिखे गये हैं वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं और कितनी ही गलतफ़हमियोंको जन्म दे रहे तथा प्रचारमें ला रहे हैं। अतः इस विषयमें गहरे अनुसन्धानके साथ गम्भीर विचारकी जरूरत है और उसीका यहाँपर प्रयत्न किया जाता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्धसेनके नामपर जो ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे कितने ही ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो निश्चितरूपमें दूसरे उत्तरवर्ती सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हैं; जैसे १ जीतकल्पचूर्णि २ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी टीका ३ प्रवचनसारोद्धारकी वृत्ति ४ एकविंशतिस्थानप्रकरण (प्रा०) और ५ सिद्धिश्रेयसमुदय (शक्रस्तव) नामका मन्त्रगर्भित गद्यस्तोत्र। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका सिद्धसेन-नामके साथ उल्लेख तो मिलता है परन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं, जैसे १ बृहत् षड्दर्शनसमुच्चय[2] (जैनग्रन्थावली पृ० ९४), २ विषोग्रग्रहशमन-

१ देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—"इति विविधभंग-गहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्"। (५८)
"अत्यन्तनिशितधार दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्"। (५९)

२ हो सकता है कि यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिका 'षड्दर्शनसमुच्चय' ही हो और किसी गलतीसे सूरतके उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधि, जिसका उल्लेख उग्रादित्याचार्य (विक्रम ९वीं शताब्दी)के 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थ (२०-८५)में पाया जाता है' और ३ नीतिसारपुराण, जिसका उल्लेख केशवसेनसूरि (वि० सं० १६८८) कृत कर्णामृतपुराणके निम्न पद्योंमें पाया जाता है और जिनमें उसकी श्लोकसंख्या भी १५६३०० दी हुई है—

सिद्धोक्त-नीतिसारादिपुराणोद्भूत-सन्मतिं ।
विधास्यामि प्रसन्नार्थं ग्रन्थं सन्दर्भगर्भितम् ॥१९॥
खंखाग्निरसवाणेन्दु (१५६३००) श्लोकसंख्या प्रसूत्रिता ।
नीतिसारपुराणस्य सिद्धसेनादिसूरिभिः ॥२०॥

उपलब्ध न होनेके कारण ये तीनों ग्रन्थ विचारोंमें कोई सहायक नहीं हो सकते। इन आठ ग्रन्थोंके अलावा चार ग्रन्थ और हैं—१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २ प्रस्तुत सन्मतिसूत्र, ३ न्यायावतार और ४ कल्याणमन्दिर। 'कल्याणमन्दिर' नामका स्तोत्र ऐसा है जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेनदिवाकरकी कृति समझा और माना जाता है; जबकि दिगम्बर परम्परामें वह स्तोत्रके अन्तिम पद्यमें सूचित किये हुए 'कुमुदचन्द्र' नामके अनुसार कुमुदचन्द्राचार्यकी कृति माना जाता है। इस विषयमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायका यह कहना है कि सिद्धसेनका नाम दीक्षाके समय कुमुदचन्द्र' रक्खा गया था, आचार्यपदके समय उनका पुराना नाम ही उन्हें दे दिया गया था, ऐसा प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित (सं० १३३४)से जाना जाता है और इसलिये कल्याणमन्दिरमें प्रयुक्त हुआ कुमुदचन्द्र' नाम सिद्धसेनका ही नामान्तर है।' दिगम्बर समाज इसे पीछेकी कल्पना और एक दिगम्बर कृतिको हथियानेकी योजनामात्र समझता है; क्योंकि प्रभावकचरितसे पहले सिद्धसेन-विषयक जो दो प्रबन्ध लिखे गये हैं उनमें कुमुदचन्द्र नामका कोई उल्लेख नहीं है—पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामें भी इस बातको व्यक्त किया है। बादके बने हुए मेरुतुङ्गाचार्यके प्रबन्धचिन्तामणि (सं० १३६१)में और जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्प (सं० १३८९)में भी उसे अपनाया नहीं गया है। राजशेखरके प्रबन्धकोश अपरनाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध (सं० १४०५)में कुमुदचन्द्र नामको अपनाया जरूर गया है परन्तु प्रभावकचरितके विरुद्ध कल्याणमन्दिरस्तोत्रको 'पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका'के रूपमें व्यक्त किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि वीरकी द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिसे जब कोई चमत्कार देखनेमें नहीं आया तब यह पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका रची गई है, जिसके ११वें से नहीं किन्तु प्रथम पद्यसे ही चमत्कार प्रारम्भ हो गया[2]। ऐसी स्थितिमें पार्श्वनाथद्वात्रिंशिकाके रूपमें जो कल्याणमन्दिरस्तोत्र रचा गया वह ३२ पद्योंका कोई दूसरा ही होना चाहिये, न कि वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्र, जिसकी रचना ४४ पद्योंमें हुई है, और इससे दोनों कुमुदचन्द्र भी भिन्न होने चाहियें। इसके सिवाय, वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्रमें 'प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषात्' इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं जो पार्श्वनाथको दैत्यकृत उपसर्गसे युक्त प्रकट करते हैं, जो दिगम्बर मान्यताके अनुकूल और श्वेताम्बर मान्यताके प्रतिकूल हैं, क्योंकि श्वेताम्बरीय

---

* जिसपरसे जैनग्रन्थावलीमें लिया गया है; क्योंकि इसके साथमें जिस टीकाका उल्लेख है उसे 'गुणरत्न' की लिखा है और हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयपर भी गुणरत्नकी टीका है।

१ "शालाक्यं पूज्यपाद-प्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रस्वामि-प्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः"

२ "इत्यादिश्रीवीरद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता। परं तत्स्मात्तादृक्षं चमत्कारमनालोक्य पश्चात् श्रीपार्श्वनाथद्वात्रिंशिकामभिकर्तुं कल्याणमन्दिरस्तवं चक्रे प्रथमश्लोके एव प्रासादस्थितात् शिखिशिखामादिव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचाराङ्ग-निर्युक्तिमें वर्द्धमानको छोड़कर शेष २३ तीर्थङ्करोंके तपःकर्मको निरुपसर्ग वर्णित किया है[1]। इससे भी प्रस्तुत कल्याणमन्दिर दिगम्बर कृति होनी चाहिये।

प्रमुख श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने ग्रन्थकी गुजराती प्रस्तावनामें[2] विविधतीर्थकल्पको छोड़कर शेष पाँच प्रबन्धोंका सिद्धसेन-विषयक सार बहुपरिश्रमके साथ दिया है और उसमें कितनी परस्पर विरोधी तथा मौलिक मतभेदकी बातोंका भी उल्लेख किया है और साथ ही यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सिद्धसेन दिवाकर-का नाम मूलमें कुमुदचन्द्र नहीं था, होता तो दिवाकर-विशेषणकी तरह यह श्रुतिप्रिय नाम भी किसी-न-किसी प्राचीन ग्रन्थमें सिद्धसेनकी निश्चित कृति अथवा उसके उद्धृत वाक्योंके साथ जरूर उल्लेखित मिलता—प्रभावकचरितसे पहलेके किसी भी ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं है। और यह कि कल्याणमन्दिरको सिद्धसेनकी कृति सिद्ध करनेके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है—वह सन्देहास्पद है।' ऐसी हालतमें कल्याणमन्दिरकी बातको यहाँ छोड़ ही दिया जाता है। प्रकृत-विषयके निर्णयमें वह कोई विशेष साधक-बाधक भी नहीं है।

अब रही द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, सन्मतिसूत्र और न्यायावतारकी बात। न्यायावतार एक ३२ श्लोकोंका प्रमाण-नय-विषयक लघुग्रन्थ है, जिसके आदि-अन्तमें कोई मङ्गलाचरण तथा प्रशस्ति नहीं है, जो आमतौरपर श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनदिवाकरकी कृति माना जाता है और जिसपर श्वे० सिद्धर्षि (सं० ९६२)की विवृति और उस विवृतिपर देवभद्रकी टिप्पणी उपलब्ध है और ये दोनों टीकाएँ डा० पी० एल० वैद्यके द्वारा सम्पादित होकर सन् १९२८में प्रकाशित हो चुकी हैं। सन्मतिसूत्रका परिचय ऊपर दिया ही जा चुका है। उसपर अभय-देवसूरिकी २५ हजार श्लोक-परिमाण जो संस्कृतटीका है वह उक्त दोनों विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर सं० १९८७में प्रकाशित हो चुकी है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ३२ ३२ पद्योंकी ३२ कृतियाँ बतलाई जाती हैं, जिनमेंसे २१ उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भावनगरकी जैनधर्मप्रसारक सभाकी तरफसे विक्रम संवत् १९६५में प्रकाशित हो चुकी हैं। ये जिस क्रमसे प्रकाशित हुई हैं उसी क्रमसे निर्मित हुई हों ऐसा उन्हें देखनेसे मालूम नहीं होता—वे बादको किसी लेखक अथवा पाठक-द्वारा उस क्रमसे संग्रह की अथवा कराई गई जान पड़ती हैं। इस बातको पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावनामें व्यक्त किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि 'ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ सिद्धसेनने जैनदीक्षा स्वीकार करनेके पीछे ही रची हों ऐसा नहीं कहा जा सकता, इनमेंसे कितनी ही द्वात्रिंशिकाएँ (बत्तीसियाँ) उनके पूर्वाश्रममें भी रची हुई हो सकती हैं।' और यह ठीक है, परन्तु ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनकी रची हुई हों ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; चुनाँचे २१वीं द्वात्रिंशिकाके विषयमें पण्डित सुखलालजी आदिने प्रस्तावनामें यह स्पष्ट स्वीकार भी किया है कि उसकी भाषारचना और वर्णित वस्तुकी दूसरी बत्तीसियोंके साथ तुलना करनेपर ऐसा मालूम होता है कि वह बत्तीसी किसी जुदे ही सिद्धसेनकी कृति है और चाहे जिस कारणसे दिवाकर (सिद्धसेन)की मानी जानेवाली कृतियोंमें दाखिल होकर दिवाकरके नामपर चढ़ गई है।' इसे महावीर-द्वात्रिंशिका[3] लिखा है—महावीर नामका इसमें उल्लेख भी है; जब कि और किसी

१ "सव्वेसि तवो कम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं। नवरं तु वड्ढमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥२७६॥"

२ यह प्रस्तावना ग्रन्थके गुजराती अनुवाद-भावार्थके साथ सन् १९३२में प्रकाशित हुई है और ग्रन्थका यह गुजराती संस्करण बादको अंग्रेजीमें अनुवादित होकर 'सन्मतितर्क'के नामसे सन १९३९में प्रकाशित हुआ है।

३ यह द्वात्रिंशिका अलग ही है ऐसा ताडपत्रीय प्रतिसे भी जाना जाता है, जिसमें २० ही द्वात्रिंशिकाएँ अङ्कित हैं और उनके अन्तमें "ग्रन्थाग्र ८३० मंगलमस्तु" लिखा है, जो ग्रन्थकी समाप्तिके साथ उसकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वात्रिंशिकामें 'महावीर' नामका उल्लेख नहीं है—प्रायः 'वीर' या 'वर्द्धमान' नामका ही उल्लेख पाया जाता है। इसकी पद्यसंख्या ३३ है और ३३वें पद्यमें स्तुतिका माहात्म्य दिया हुआ है; ये दोनों बातें दूसरी सभी द्वात्रिंशिकाओंसे विलक्षण हैं और उनसे इसके भिन्नकर्तृत्वकी द्योतक हैं। इसपर टीका भी उपलब्ध है जब कि और किसी द्वात्रिंशिकापर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। चंद्रप्रभसूरिने प्रभावकचरितमें न्यायावतारकी, जिसपर टीका उपलब्ध है, गणना भी ३२ द्वात्रिंशिकाओंमें की है ऐसा कहा जाता है परन्तु प्रभावकचरितमें वैसा कोई उल्लेख नहीं मिलता और न उसका समर्थन पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अन्य किसी प्रबन्धसे ही होता है। टीकाकारोंने भी उसके द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाका अंग होनेकी कोई बात सूचित नहीं की, और इस लिये न्यायावतार एक स्वतंत्र ही ग्रन्थ होना चाहिये तथा उसी रूपमें प्रसिद्धिको भी प्राप्त है।

२१वीं द्वात्रिंशिकाके अन्तमें 'सिद्धसेन' नाम भी लगा हुआ है, जबकि ५वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर और किसी द्वात्रिंशिकामें वह नहीं पाया जाता। हो सकता है कि ये नामवाली दोनों द्वात्रिंशिकाएँ अपने स्वरूपपरसे एक नहीं किन्तु दो अलग अलग सिद्धसेनोंसे सम्बन्ध रखती हों और शेष विना नामवाली द्वात्रिंशिकाएँ इनसे भिन्न दूसरे ही सिद्धसेन अथवा सिद्धसेनोंकी कृतिस्वरूप हों। पण्डित सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजीने पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओंको, जो वीर भगवानकी स्तुतिपरक हैं, एक ग्रूप (समुदाय)में रक्खा है और उस ग्रूप (द्वात्रिंशिकापञ्चक)का स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रके साथ साम्य घोषित करके तुलना करते हुए लिखा है कि स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जिस प्रकार स्वयम्भू शब्दसे होता है और अन्तिम पद्य (१४३)में ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे अपना नाम समन्तभद्र सूचित किया है उसी प्रकार इस द्वात्रिंशिका-पञ्चकका प्रारम्भ भी स्वयम्भू शब्दसे होता है और उसके अन्तिम पद्य (५, ३२)में भी ग्रन्थकारने श्लेषरूपमें अपना नाम सिद्धसेन दिया है।' इससे शेष १५ द्वात्रिंशिकाएँ भिन्न ग्रूप अथवा ग्रूपोंसे सम्बन्ध रखती हैं और उनमें प्रथम ग्रूपकी पद्धतिको न अपनाये जाने अथवा अन्तमें ग्रन्थकारका नामोल्लेख तक न होनेके कारण वे दूसरे सिद्धसेन या सिद्धसेनों-की कृतियाँ भी हो सकती हैं। उनमेंसे ११वीं किसी राजाकी स्तुतिको लिये हुए है, छठी तथा आठवीं समीक्षात्मक हैं और शेष बारह दार्शनिक तथा वस्तुचर्चा वाली हैं।

इन सब द्वात्रिंशिकाओंके सम्बन्धमें यहाँ दो बातें और भी नोट किये जानेके योग्य हैं—एक यह कि द्वात्रिंशिका (बत्तीसी) होनेके कारण जब प्रत्येककी पद्यसंख्या ३२ होनी चाहिये थी तब वह घट-बढ़रूपमें पाई जाती है। १०वींमें दो पद्य तथा २१वींमें एक पद्य बढ़ती है, और ८वींमें छह पद्योंकी, ११वींमें चारकी तथा १५वींमें एक पद्यकी घटती है। यह घट-बढ़ भावनगरकी उक्त मुद्रित प्रतिमें ही नहीं पाई जाती बल्कि पूनाके भाण्डारकर इन्स्टि-ट्यूट और कलकत्ताकी एशियाटिक सोसाइटीकी हस्तलिखित प्रतियोंमें भी पाई जाती है। रचना-समयकी तो यह घट-बढ़ प्रतीतिका विषय नहीं—पं० सुखलालजी आदिने भी लिखा है कि 'बढ़-घटकी यह घालमेल रचनाके बाद ही किसी कारणसे होनी चाहिये।' इसका एक कारण लेखकोंकी असावधानी हो सकता है; जैसे १९वीं द्वात्रिंशिकामें एक पद्यकी कमी थी वह पूना और कलकत्ताकी प्रतियोंसे पूरी हो गई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि किसीने अपने प्रयोजनके वश यह घालमेल की हो। कुछ भी हो, इससे उन द्वात्रिंशिकाओंके पूर्णरूपको समझने आदिमें बाधा पड़ रही है; जैसे ११वीं द्वात्रिंशिकासे यह मालूम ही नहीं होता कि वह कौनसे राजाकी स्तुति है, और इससे उसके रचयिता तथा रचना-कालको जाननेमें भारी बाधा उपस्थित है। यह नहीं हो सकता कि किसी विशिष्ट राजाकी स्तुति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम बराबर दिया हुआ है, फिर यही उससे शून्य रही हो यह कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। अतः जरूरत इस बातकी है कि द्वात्रिंशिका-विषयक प्राचीन प्रतियों की पूरी खोज की जाय। इससे अनुपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भी यदि कोई होंगी तो उपलब्ध हो सकेंगी और उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे वे अशुद्धियाँ भी दूर हो सकेंगी जिनके कारण उनका पठन-पाठन कठिन हो रहा है और जिसकी पं० सुखलालजी आदिको भी भारी शिकायत है।

दूसरी बात यह कि द्वात्रिंशिकाओंको स्तुतियाँ कहा गया है[1] और इनके अवतार-का प्रसङ्ग भी स्तुति-विषयका ही है; क्योंकि श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार विक्रमादित्य राजा की ओरसे शिवलिङ्गको नमस्कार करनेका अनुरोध होनेपर जब सिद्धसेनाचार्यने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार सहन करनेमें समर्थ नहीं है—मेरा नमस्कार सहन करनेवाले दूसरे ही देवता हैं—तब राजाने कौतुकवश, परिणामकी कोई पर्वाह न करते हुए नमस्कारके लिये विशेष आग्रह किया[2]। इसपर सिद्धसेन शिवलिङ्गके सामने आसन जमाकर बैठ गये और इन्होंने अपने इष्टदेवकी स्तुति उच्चस्वर आदिके साथ प्रारम्भ कर दी; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"श्रुत्वेति पुनरासीनः शिवलिङ्गस्य स प्रभुः।
उदाजहे स्तुतिश्लोकान् तारस्वरकरस्तदा ॥१३८॥" —प्रभा० च०

"ततः पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाभिर्देवं स्तुतिमुपचक्रमे।"
—विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोश।

परन्तु उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओंमें स्तुतिपरक द्वात्रिंशिकाएँ केवल सात ही हैं, जिनमें भी एक राजाकी स्तुति होनेसे देवताविषयक स्तुतियोंकी कोटिसे निकल जाती है और इस तरह छह द्वात्रिंशिकाएँ ही ऐसी रह जाती हैं जिनका श्रीवीरवर्द्धमानकी स्तुतिसे सम्बन्ध है और जो उस अवसरपर उच्चरित कही जा सकती हैं—शेष १४ द्वात्रिंशिकाएँ न तो स्तुति-विषयक हैं, न उक्त प्रसङ्गके योग्य हैं और इसलिये उनकी गणना उन द्वात्रिंशिकाओं में नहीं की जा सकती जिनकी रचना अथवा उच्चारणा सिद्धसेनने शिवलिङ्गके सामने बैठ कर की थी।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि प्रभावकचरितके अनुसार स्तुतिका प्रारम्भ "प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयं।" इत्यादि श्लोकोंसे हुआ है, जिनमेंसे "तथा हि" शब्दके साथ चार श्लोकोंको[3] उद्धृत करके उनके आगे "इत्यादि" लिखा गया

१ "सिद्धसेणेण पारद्धा बत्तीसियाहिं जिणथुई" × × —(गद्यप्रबन्ध-कथावली)
"तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुई समत्ताहिं। बत्तीसाहिं बत्तीसियाहिं उद्दामसद्देण॥"
—(पद्यप्रबन्ध; स० प्र० पृ० ५६)
"न्यायावतारसूत्रं च श्रीवीरस्तुतिमप्यथ। द्वात्रिंशच्छ्लोकमानाश्च त्रिंशदन्याः स्तुतीरपि॥ १४३॥"
—प्रभावकचरित

२ ये मत्प्रणामसोढारस्ते देवा अपरे ननु। किं भावि प्रणमं त्वं द्राक् प्राह राजेति कौतुकी॥ १३५॥
देवान्निजप्रणम्यांश्च दर्शय त्वं वदन्निति। भूपतिर्जल्पितस्तेनोत्पाते दोषो न मे नृप॥ १३६॥

३ चारों श्लोक इस प्रकार हैं:—
प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयम्। समस्तैरपि नो नाथ! वरतीर्थाधिपैस्तथा॥ १३९॥
विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः। समुद्गतः समग्रोऽपि तथा किं तारकागणः॥ १४०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। और फिर 'न्यायावतारसूत्रं च' इत्यादि श्लोकद्वारा ३२ कृतियोंकी और सूचना की गई है, जिनमेंसे एक न्यायावतारसूत्र, दूसरी श्रीवीरस्तुति और ३० बत्तीस बत्तीस श्लोकोंवाली दूसरी स्तुतियाँ हैं। प्रबन्धचिन्तामणिके अनुसार स्तुतिका प्रारम्भ—

"प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥"

इस श्लोकसे होता है, जिसके अनन्तर "इति द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता" लिखकर यह सूचित किया गया है कि वह द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिका प्रथम श्लोक है। इस श्लोक तथा उक्त चारों श्लोकोंमेंसे किसीसे भी प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाओंका प्रारम्भ नहीं होता है, न ये श्लोक किसी द्वात्रिंशिकामें पाये जाते हैं और न इनके साहित्यका उपलब्ध प्रथम २० द्वात्रिंशिकाओंके साहित्यके साथ कोई मेल ही खाता है। ऐसी हालतमें इन दोनों प्रबन्धों तथा लिखित पद्यप्रबन्धमें उल्लेखित द्वात्रिंशिका स्तुतियाँ उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे भिन्न कोई दूसरी ही होनी चाहियें। प्रभावकचरितके उल्लेखपरसे इसका और भी समर्थन होता है; क्योंकि उसमें 'श्रीवीरस्तुति'के बाद जिन ३० द्वात्रिंशिकाओंको "अन्याः स्तुतिः" लिखा है वे श्रीवीरसे भिन्न दूसरे ही तीर्थङ्करादिकी स्तुतियाँ जान पड़ती हैं और इसलिये उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम ग्रूप द्वात्रिंशिकापञ्चकमें उनका समावेश नहीं किया जा सकता, जिस मेंकी प्रत्येक द्वात्रिंशिका श्रीवीरभगवानसे ही सम्बन्ध रखती है। उक्त तीनों प्रबन्धोंके बाद बने हुए विविधतीर्थकल्प और प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध)में स्तुतिका प्रारम्भ 'स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रं' इत्यादि पद्यसे होता है, जो उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम ग्रूपका प्रथम पद्य है, इसे देकर "इत्यादि श्रीवीरद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता" ऐसा लिखा है। यह पद्य प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंका सम्बन्ध उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके साथ जोड़नेके लिये बादको अपनाया गया मालूम होता है; क्योंकि एक तो पूर्वरचित प्रबन्धोंसे इसका कोई समर्थन नहीं होता, और उक्त तीनों प्रबन्धोंसे इसका स्पष्ट विरोध पाया जाता है। दूसरे, इन दोनों ग्रन्थोंमें द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाको एकमात्र श्रीवीरसे सम्बन्धित किया गया है और उसका विषय भी "देवं स्तोतुमुपचक्रमे" शब्दोंके द्वारा 'स्तुति' ही बतलाया गया है; परन्तु उस स्तुतिको पढ़नेसे शिवलिङ्गका विस्फोट होकर उसमेंसे वीरभगवानकी प्रतिमाका प्रादुर्भूत होना किसी ग्रन्थमें भी प्रकट नहीं किया गया—विविधतीर्थकल्पका कर्ता आदिनाथकी और प्रबन्धकोशका कर्ता पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट होना बतलाता है। और यह एक असङ्गत-सी बात जान पड़ती है कि स्तुति तो किसी तीर्थङ्करकी की जाय और उसे करते हुए प्रतिमा किसी दूसरे ही तीर्थङ्करकी प्रकट होवे।

इस तरह भी उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंमें उक्त १४ द्वात्रिंशिकाएँ, जो स्तुतिविषय तथा वीरकी स्तुतिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंमें परिगणित नहीं की जा सकतीं। और इसलिये पं० सुखलालजी तथा पं० बेचरदासजीका प्रस्तावनामें यह लिखना कि 'शुरुआतमें दिवाकर (सिद्धसेन)के जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक बत्तीसियों (द्वात्रिंशिकाओं)को ही स्थान देनेकी जरूरत मालूम हुई और इनके साथमें संस्कृत भाषा तथा पद्यसंख्यामें समानता रखनेवाली परन्तु स्तुत्यात्मक नहीं ऐसी दूसरी घनी बत्तीसियाँ इनके जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक कृतिरूपमें ही दाखिल होगईं और पीछे किसीने इस हकीकतको देखा तथा खोजा ही नहीं कि कहीं जानेवाली बत्तीस अथवा उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियोंमें

नो वाद्भुतमुलूकस्य प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः। स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः ॥ १४२ ॥

लिखित पद्यप्रबन्धमें भी ये ही चारों श्लोक 'तस्सायगस्स तेणं पारद्धा जिणथुइ' इत्यादि पद्यके

Jain Education International www.jainelibrary.org

कितनी और कौन स्तुतिरूप हैं और कौन कौन स्तुतिरूप नहीं हैं' और इस तरह सभी प्रबन्ध-रचयिता आचार्योंको ऐसी मोटी भूलके शिकार बतलाना कुछ भी जीको लगने वाली बात मालूम नहीं होती। उसे उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंकी सङ्गति बिठलानेका प्रयत्नमात्र ही कहा जा सकता है, जो निराधार होनेसे समुचित प्रतीत नहीं होता।

द्वात्रिंशिकाओंकी इस सारी छान-बीनपरसे निम्न बातें फलित होती हैं—

१. द्वात्रिंशिकाएँ जिस क्रमसे छपी हैं उसी क्रमसे निर्मित नहीं हुई हैं।

२. उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनके द्वारा निर्मित हुई मालूम नहीं होतीं।

३. न्यायावतारकी गणना प्रबन्धोल्लिखित द्वात्रिंशिकाओंमें नहीं की जा सकती।

४. द्वात्रिंशिकाओंकी संख्यामें जो घट-बढ़ पाई जाती है वह रचनाके बाद हुई है और उसमें कुछ ऐसी घट-बढ़ भी शामिल है जो कि किसीके द्वारा जान-बूझकर अपने किसी प्रयोजनके लिये की गई हो। ऐसी द्वात्रिंशिकाओंका पूर्ण रूप अभी अनिश्चित है।

५. उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंका प्रबन्धोंमें वर्णित द्वात्रिंशिकाओंके साथ, जो सब स्तुत्यात्मक हैं और प्रायः एक ही स्तुतिग्रन्थ 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' की अङ्ग जान पड़ती हैं, सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। दोनों एक दूसरेसे भिन्न तथा भिन्नकर्तृक प्रतीत होती हैं।

ऐसी हालतमें किसी द्वात्रिंशिकाका कोई वाक्य यदि कहीं उद्धृत मिलता है तो उसे उसी द्वात्रिंशिका तथा उसके कर्ता तक ही सीमित समझना चाहिये, शेष द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसी दूसरी द्वात्रिंशिकाके विषयके साथ उसे जोड़कर उसपरसे कोई दूसरी बात उस वक्त तक फलित नहीं की जानी चाहिये जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय कि वह दूसरी द्वात्रिंशिका भी उसी द्वात्रिंशिकाकारकी कृति है। अस्तु।

अब देखना यह है कि इन द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतारमेंसे कौन-सी रचना सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन आचार्यकी कृति है अथवा हो सकती है? इस विषयमें पण्डित सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामें यह प्रतिपादन किया है कि २१वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार और सन्मति ये सब एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं और ये सिद्धसेन वे हैं जो उक्त श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार वृद्धवादीके शिष्य थे और 'दिवाकर' नामके साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। दूसरे श्वेताम्बर विद्वानोंका विना किसी जाँच-पड़तालके अनुसरण करनेवाले कितने ही जैनेतर विद्वानों की भी ऐसी ही मान्यता है और यह मान्यता ही उस सारी भूल-भ्रान्तिका मूल है जिसके कारण सिद्धसेन-विषयक जो भी परिचय-लेख अब तक लिखे गये वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं, कितनी ही गलतफहमियोंको फैला रहे हैं और उनके द्वारा सिद्धसेनके समयादिकका ठीक निर्णय नहीं हो पाता। इसी मान्यताको लेकर विद्वद्वर पण्डित सुखलाल-जीकी स्थिति सिद्धसेनके समय-सम्बन्धमें बराबर डाँवाडोल चली जाती है। आप प्रस्तुत सिद्धसेनका समय कभी विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्व ५वीं शताब्दी[1] बतलाते हैं, कभी छठी शताब्दीका भी उत्तरवर्ती समय[2] कह डालते हैं, कभी सन्दिग्धरूपमें छठी या सातवीं शताब्दी[3] निर्दिष्ट करते हैं और कभी ५वीं तथा छठी शताब्दीका मध्यवर्तीकाल[4] प्रतिपादन करते हैं। और बड़ी मजेकी बात यह है कि जिन प्रबन्धोंके आधारपर सिद्धसेनदिवाकर का परिचय दिया जाता है उनमें 'न्यायावतार'का नाम तो किसी तरह एक प्रबन्धमें पाया भी जाता है परन्तु सिद्धसेनकी कृतिरूपमें सन्मतिसूत्रका कोई उल्लेख कहीं भी उप-

१ सन्मतिप्रकरण-प्रस्तावना पृ० ३६, ४३, ६४, ६४। २ ज्ञानबिन्दु-परिचय पृ० ६।

३ सन्मतिप्रकरणके अंग्रेजी संस्करणका फोरवर्ड (Foreword) और भारतीयविद्यामें प्रकाशित 'श्रीसिद्ध-सेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेख—भा० वि० तृतीय भाग पृ० १५२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लब्ध नहीं होता। इतनेपर भी प्रबन्ध-वर्णित सिद्धसेनकी कृतियोंमें उसे भी शामिल किया जाता है! यह कितने आश्चर्यकी बात है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

ग्रन्थकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी आदिने, यह प्रतिपादन करते हुए कि 'उक्त प्रबन्धोंमें वे द्वात्रिंशिकाएँ भी जिनमें किसीकी स्तुति नहीं है और जो अन्य दर्शनों तथा स्वदर्शनके मन्तव्योंके निरूपण तथा समालोचनको लिये हुए हैं स्तुतिरूपमें परिगणित हैं और उन्हें दिवाकर(सिद्धसेन)के जीवनमें उनकी कृतिरूपसे स्थान मिला है,' इसे एक 'पहेली' ही बतलाया है जो स्वदर्शनका निरूपण करनेवाले और द्वात्रिंशिकाओंसे न उतरनेवाले (नीचा दर्जा न रखनेवाले) 'सन्मतिप्रकरण'को दिवाकरके जीवनवृत्तान्त और उनकी कृतियोंमें स्थान क्यों नहीं मिला। परन्तु इस पहेलीका कोई समुचित हल प्रस्तुत नहीं किया गया, प्रायः इतना कहकर ही सन्तोष धारण किया गया है कि 'सन्मतिप्रकरण यदि बत्तीस श्लोकपरिमाण होता तो वह प्राकृतभाषामें होते हुए भी दिवाकरके जीवनवृत्तान्तमें स्थान पाई हुई संस्कृत बत्तीसियों-के साथमें परिगणित हुए विना शायद ही रहता।' पहेलीका यह हल कुछ भी महत्व नहीं रखता। प्रबन्धोंसे इसका कोई समर्थन नहीं होता और न इस बातका कोई पता ही चलता है कि उपलब्ध जो द्वात्रिंशिकाएँ स्तुत्यात्मक नहीं हैं वे सब दिवाकर सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तमें दाखिल हो गई हैं और उन्हें भी उन्हीं सिद्धसेनकी कृतिरूपसे उनमें स्थान मिला है, जिससे उक्त प्रतिपादनका ही समर्थन होता—प्रबन्धवर्णित जीवनवृत्तान्तमें उनका कहीं कोई उल्लेख ही नहीं हैं। एकमात्र प्रभावकचरितमें 'न्यायावतार'का जो असम्बद्ध, असमर्थित और असमञ्जस उल्लेख मिलता है उसपरसे उसकी गणना उस द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाके अङ्गरूपमें नहीं की जा सकती जो सब जिन-स्तुतिपरक थी, वह एक जुदा ही स्वतन्त्र ग्रन्थ है जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। और सन्मतिप्रकरणका बत्तीस श्लोकपरिमाण न होना भी सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तसे सम्बद्ध कृतियोंमें उसके परिगणित होनेके लिये कोई बाधक नहीं कहा जा सकता—खासकर उस हालतमें जब कि चवालीस पद्यसंख्यावाले कल्याणमन्दिरस्तोत्र-को उनकी कृतियोंमें परिगणित किया गया है और प्रभावकचरितमें इस पद्यसंख्याका स्पष्ट उल्लेख भी साथमें मौजूद है[1]। वास्तवमें प्रबन्धोंपरसे यह ग्रन्थ उन सिद्धसेनदिवाकरकी कृति मालूम ही नहीं होता, जो वृद्धवादीके शिष्य थे और जिन्हें आगमग्रन्थोंको संस्कृतमें अनुवादित करनेका अभिप्रायमात्र व्यक्त करनेपर पारञ्चिकप्रायश्चित्तके रूपमें बारह वर्ष तक श्वेताम्बर संघसे बाहर रहनेका कठोर दण्ड दिया जाना बतलाया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थको उन्हीं सिद्धसेनकी कृति बतलाना, यह सब बादकी कल्पना और योजना ही जान पड़ती है।

पं० सुखलालजीने प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिसूत्रका एककर्तृत्व प्रतिपादन करनेके लिये कोई खास हेतु प्रस्तुत नहीं किया, जिससे इन सब कृतियोंको एक ही आचार्यकृत माना जा सके, प्रस्तावनामें केवल इतना ही लिख दिया है कि 'इन सबके पीछे रहा हुआ प्रतिभाका समान तत्त्व ऐसा माननेके लिये ललचाता है कि ये सब कृतियाँ किसी एक ही प्रतिभाके फल हैं।' यह सब कोई समर्थ युक्तिवाद न होकर एक प्रकारसे अपनी मान्यताका प्रकाशनमात्र है; क्योंकि इन सभी ग्रन्थोंपरसे प्रतिभाका ऐसा कोई असाधारण समान तत्त्व उपलब्ध नहीं होता जिसका अन्यत्र कहीं भी दर्शन न होता हो। स्वामी समन्तभद्रके मात्र स्वयम्भूस्तोत्र और आप्तमीमांसा ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थों-की तुलना करते हुए स्वयं प्रस्तावनालेखकोंने दोनोंमें 'पुष्कल साम्य'का होना स्वीकार किया

१ ततश्चतुश्चत्वारिंशद्वृत्तां स्तुतिमसौ जगौ। कल्याणमन्दिरेत्यादिविख्यातां जिनशासने ॥१४४॥
—वृद्धवादिप्रबन्ध पृ० १०१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और दोनों आचार्योंकी ग्रन्थनिर्माणादि-विषयक प्रतिभाका कितना ही चित्रण किया है। और भी अकलङ्क-विद्यानन्दादि कितने ही आचार्य ऐसे हैं जिनकी प्रतिभा इन ग्रन्थोंके पीछे रहनेवाली प्रतिभासे कम नहीं है, तब प्रतिभाकी समानता ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जिसकी अन्यत्र उपलब्धि न हो सके और इसलिये एकमात्र उसके आधारपर इन सब ग्रन्थों-को, जिनके प्रतिपादनमें परस्पर कितनी ही विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, एक ही आचार्यकृत नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है समानप्रतिभाके उक्त लालचमें पड़कर ही बिना किसी गहरी जाँच-पड़तालके इन सब ग्रन्थोंको एक ही आचार्यकृत मान लिया गया है; अथवा किसी साम्प्रदायिक मान्यताको प्रश्रय दिया गया है जबकि वस्तुस्थिति वैसी मालूम नहीं होती। गम्भीर गवेषणा और इन ग्रन्थोंकी अन्तःपरीक्षादिपरसे मुझे इस बातका पता चला है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अनेक द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भिन्न हैं। यदि २१वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे किसी भी द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं, अन्यथा कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं। न्याया-वतारके कर्ता सिद्धसेनकी भी ऐसी ही स्थिति है वे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनसे जहाँ भिन्न हैं वहाँ कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भी भिन्न हैं और उक्त २० द्वात्रिंशिकाएँ यदि एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे कुछके कर्ता हो सकते हैं, अन्यथा किसीके भी कर्ता नहीं बन सकते। इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता, न्यायावतारके कर्ता और कतिपय द्वात्रि-शिकाओंके कर्ता तीन सिद्धसेन अलग अलग हैं—शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमेंसे कोई एक या दो अथवा तीनों हो सकते हैं और यह भी हो सकता है कि किसी द्वात्रिंशिकाके कर्ता इन तीनोंसे भिन्न कोई अन्य ही हों। इन तीनों सिद्धसेनोंका अस्तित्वकाल एक दूसरेसे भिन्न अथवा कुछ अन्तरालको लिये हुए है और उनमें प्रथम सिद्धसेन कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता, द्वितीय सिद्धसेन सन्मतिसूत्रके कर्ता और तृतीय सिद्धसेन न्यायावतारके कर्ता हैं। नीचे अपने अनुसन्धान-विषयक इन्हीं सब बातोंको संक्षेपमें स्पष्ट करके बतलाया जाता है:—

(१) सन्मतिसूत्रके द्वितीय काण्डमें केवलीके ज्ञान-दर्शन-उपयोगोंकी क्रमवादिता और युगपद्वादितामें दोष दिखाते हुए अभेदवादिता अथवा एकोपयोगवादिताका स्थापन किया है। साथ ही ज्ञानावरण और दर्शनावरणका युगपत् क्षय मानते हुए भी यह बतलाया है कि दो उपयोग एक साथ कहीं नहीं होते और केवलीमें वे क्रमशः भी नहीं होते। इन ज्ञान और दर्शन उपयोगोंका भेद मनःपर्ययज्ञान पर्यन्त अथवा छद्मस्थावस्था तक ही चलता है, केवल-ज्ञान होजानेपर दोनोंमें कोई भेद नहीं रहता—तब ज्ञान कहो अथवा दर्शन एक ही बात है, दोनोंमें कोई विषय-भेद चरितार्थ नहीं होता। इसके लिये अथवा आगमग्रन्थोंसे अपने इस कथनकी सङ्गति बिठलानेके लिये दर्शनकी 'अर्थविशेषरहित निराकार सामान्यग्रहणरूप' जो परिभाषा है उसे भी बदल कर रक्खा है अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि 'अस्पृष्ट तथा अविषयरूप पदार्थमें अनुमानज्ञानको छोड़कर जो ज्ञान होता है वह दर्शन है।' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ गाथाएँ नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥ ३ ॥
केई भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू ॥ ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं ।
तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥
सुत्तम्मि चेव 'साई अपज्जवसियं' ति केवलं वुत्तं ।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥ ८ ॥
दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं ।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओगा ॥ ९ ॥
अण्णायं पासंतो अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो ।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णू त्ति वा होइ ॥१३॥
णाणं अप्पुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु ॥२५॥
जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥३०॥

इसीसे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अभेदवादके पुरस्कर्ता माने जाते हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि और ज्ञानविन्दुके कर्ता उपाध्याय यशोविजयने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है। ज्ञानविन्दुमें तो एतद्विषयक सन्मति-गाथाओंकी व्याख्या करते हुए उनके इस वादको "श्रीसिद्धसेनोपज्ञनव्यमतं" (सिद्धसेनकी अपनी ही सूझ-बूझ अथवा उपजरूप नया मत) तक लिखा है। ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनाके आदिमें पं० सुखलालजीने भी ऐसी ही घोषणा की है ।

(२) पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाएँ युगपद्वादकी मान्यताको लिये हुए हैं; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

क—"जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुण-कथोत्का वयमपि ॥१-३२॥"

ख—"नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि नाऽप्यवेत्सी-
र्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं
पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२-३०॥"

ग—"अनन्तमेकं युगपत् त्रिकालं शब्दादिभिर्निप्रतिघातवृत्ति ॥५-२१॥"
दुरापमाप्तं यदचिन्त्य-भूति-ज्ञानं त्वया जन्म-जराऽन्तकर्तृ
तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥५-२२॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन पद्योंमें ज्ञान और दर्शनके जो भी त्रिकालवर्ती अनन्त विषय हैं उन सबको युगपत् जानने-देखनेकी बात कही गई है अर्थात् त्रिकालगत विश्वके सभी साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी-अपनी अनेक-अनन्त अवस्थाओं अथवा पर्यायों-सहित वीरभगवान्के युगपत् प्रत्यक्ष हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यहाँ प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह ज्ञान-दर्शनके यौगपद्यका उसी प्रकार द्योतक है जिसप्रकार स्वामी समन्तभद्रप्रणीत आप्तमीमांसा (देवागम)के "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्" (का० १०१) इस वाक्यमें प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द, जिसे ध्यानमें लेकर और पादटिप्पणीमें पूरी कारिकाको उद्धृत करते हुए पं० सुखलालजीने ज्ञानबिन्दुके परिचयमें लिखा है—"दिगम्बराचार्य समन्तभद्रने भी अपनी 'आप्तमीमांसा'में एकमात्र यौगपद्यपक्षका उल्लेख किया है।" साथ ही, यह भी बतलाया है कि 'भट्ट अकलङ्क'ने इस कारिकागत अपनी 'अष्टशती' व्याख्यामें यौगपद्य पक्षका स्थापन करते हुए क्रमिक पक्षका, संक्षेपमें पर स्पष्टरूपमें, खण्डन किया है, जिसे पादटिप्पणीमें निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है:—

"तज्ज्ञान-दर्शनयोः क्रमवृत्ती हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् सामान्य-विशेष-विषययोर्विगतावरणयोर्युगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराऽभावात्।"

ऐसी हालतमें इन तीन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता वे सिद्धसेन प्रतीत नहीं होते जो सन्मतिसूत्रके कर्ता और अभेदवादके प्रस्थापक अथवा पुरस्कर्ता हैं; बल्कि वे सिद्धसेन जान पड़ते हैं जो केवलीके ज्ञान और दर्शनका युगपत् होना मानते थे। ऐसे एक युगपद्वादी सिद्धसेनका उल्लेख विक्रमकी ८वीं-९वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हरिभद्रने अपनी 'नन्दीवृत्ति'में किया है। नन्दीवृत्तिमें 'केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा' इत्यादि दो गाथाओं-को उद्धृत करके, जो कि जिनभद्रक्षमाश्रमणके 'विशेषणवती' ग्रन्थकी हैं, उनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"केचन सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति, किं? 'युगपद्' एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च, कः? केवली, न त्वन्यः, नियमात् नियमेन।"

नन्दीसूत्रके ऊपर मलयगिरिसूरिने जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने भी युगपद्वादका पुरस्कर्ता सिद्धसेनाचार्यको बतलाया है। परन्तु उपाध्याय यशोविजयने, जिन्होंने सिद्धसेनको अभेदवादका पुरस्कर्ता बतलाया है, ज्ञानबिन्दुमें यह प्रकट किया है कि 'नन्दीवृत्तिमें सिद्धसेनाचार्यका जो युगपत् उपयोगवादित्व कहा गया है वह अभ्युपगमवादके अभिप्रायसे है, न कि स्वतन्त्रसिद्धान्तके अभिप्रायसे; क्योंकि क्रमोपयोग और अक्रम (युगपत्) उपयोगके पर्यनुयोगाऽनन्तर ही उन्होंने सन्मतिमें अपने पक्षका उद्भावन किया है[1],' जो कि ठीक नहीं है। मालूम होता है उपाध्यायजीकी दृष्टिमें सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन ही एकमात्र सिद्धसेनाचार्यके रूपमें रहे हैं और इसीसे उन्होंने सिद्धसेन-विषयक दो विभिन्न वादोंके कथनोंसे उत्पन्न हुई असङ्गतिको दूर करनेका यह प्रयत्न किया है, जो ठीक नहीं है। चुनाँचे पं० सुखलालजीने उपाध्यायजीके इस कथनको कोई महत्व न देते हुए और हरिभद्र जैसे बहुश्रुत आचार्यके इस प्राचीनतम उल्लेखकी महत्ताका अनुभव करते हुए ज्ञानबिन्दुके परिचय (पृ० ६०)में अन्तको यह लिखा है कि "समान नामवाले अनेक आचार्य होते आए हैं। इसलिये असम्भव नहीं कि

१ "यत्तु युगपदुपयोगवादित्वं सिद्धसेनाचार्याणां नन्दिवृत्तावुक्तं तदभ्युपगमवादाभिप्रायेण, न तु स्वतन्त्रसिद्धान्ताभिप्रायेण, क्रमाऽक्रमोपयोगद्वयपर्यनुयोगानन्तरमेव स्वपक्षस्य सम्मतौ उद्भावितत्वादिति ।" —ज्ञानबिन्दु पृ० ३३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धसेनदिवाकरसे भिन्न कोई दूसरे भी सिद्धसेन हुए हों जो कि युगपद्वादके समर्थक हुए हों या माने जाते हों।" वे दूसरे सिद्धसेन अन्य कोई नहीं, उक्त तीनों द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसीके भी कर्ता होने चाहियें। अतः इन तीनों द्वात्रिंशिकाओंको सन्मतिसूत्रके कर्ता आचार्य सिद्धसेनकी जो कृति माना जाता है वह ठीक और सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इनके कर्ता दूसरे ही सिद्धसेन हैं जो केवलीके विषयमें युगपद्-उपयोगवादी थे और जिनकी युगपद्-उपयोग-वादिताका समर्थन हरिभद्राचार्यके उक्त प्राचीन उल्लेखसे भी होता है।

(३) १९वीं निश्चयद्वात्रिंशिकामें "सर्वोपयोग-द्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम्" इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'सब जीवोंके उपयोगका द्वैविध्य अविनश्वर है।' अर्थात् कोई भी जीव संसारी हो अथवा मुक्त, छद्मस्थज्ञानी हो या केवली सभीके ज्ञान और दर्शन दोनों प्रकारके उपयोगोंका सत्व होता है—यह दूसरी बात है कि एकमें वे क्रमसे प्रवृत्त (चरितार्थ) होते हैं और दूसरेमें आवरणाभावके कारण युगपत्। इससे उस एकोपयोगवादका विरोध आता है जिसका प्रतिपादन सन्मतिसूत्रमें केवलीको लक्ष्यमें लेकर किया गया है और जिसे अभेदवाद भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें यह १९वीं द्वात्रिंशिका भी सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी कृति मालूम नहीं होती।

(४) उक्त निश्चयद्वात्रिंशिका १९में श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे अलग नहीं माना है—लिखा है कि 'मतिज्ञानसे अधिक अथवा भिन्न श्रुतज्ञान कुछ नहीं है, श्रुतज्ञानको अलग मानना व्यर्थ तथा अतिप्रसङ्ग दोषको लिये हुए है।' और इस तरह मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका अभेद प्रतिपादन किया है। इसी तरह अवधिज्ञानसे भिन्न मनःपर्ययज्ञानकी मान्यताका भी निषेध किया है—लिखा है कि 'या तो द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भी, जो कि प्रार्थना और प्रतिघातके कारण चेष्टा करते हुए देखे जाते हैं, मनःपर्ययविज्ञानका मानना युक्त होगा अन्यथा मनः-पर्ययज्ञान कोई जुदी वस्तु नहीं है। इन दोनों मन्तव्योंके प्रतिपादक वाक्य इस प्रकार हैं:—

"वैयर्थ्याऽतिप्रसंगाभ्यां न मत्यधिकं श्रुतम्। सर्वेभ्यः केवलं चक्षुस्तमः-क्रम-विवेकवत् ॥१३॥"
"प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां चेष्टन्ते द्वीन्द्रियादयः। मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न वाऽन्यथा ॥१७॥"

यह सब कथन सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है, क्योंकि उसमें श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान दोनोंको अलग ज्ञानोंके रूपमें स्पष्टरूपसे स्वीकार किया गया है—जैसा कि उसके द्वितीय[1] काण्डगत निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो ॥३॥"
"जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाणं।
तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥१९॥"
"मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादयो जम्हा ॥२६॥"
"मइ-सुय-णाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो ? ॥२७॥
जं पच्चक्खग्गहणं णं इंति सुयणाण-सम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥२८॥"

१ तृतीयकाण्डमें भी आगमश्रुतज्ञानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी हालतमें यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयद्वात्रिंशिका (१९) उन्हीं सिद्धसेनाचार्यकी कृति नहीं है जो कि सन्मतिसूत्रके कर्ता हैं— दोनोंके कर्ता सिद्धसेननामकी समानताको धारण करते हुए भी एक दूसरेसे एकदम भिन्न हैं। साथ ही, यह कहनेमें भी कोई सङ्कोच नहीं होता कि न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन भी निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्तासे भिन्न हैं; क्योंकि उन्होंने श्रुतज्ञानके भेदको स्पष्टरूपसे माना है और उसे अपने ग्रन्थमें शब्दप्रमाण अथवा आगम(श्रुत–शास्त्र)प्रमाणके रूपमें रक्खा है, जैसा कि न्यायावतारके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"दृष्टेष्टाऽव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाऽभिधायिनः । तत्त्व-ग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥
[1]आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥"
"नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि । सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥"

इस सम्बन्धमें पं० सुखलालजीने, ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनामें, यह बतलाते हुए कि 'निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेनने मति और श्रुतमें ही नहीं किन्तु अवधि और मनःपर्यायमें भी आगमसिद्ध भेद-रेखाके विरुद्ध तर्क करके उसे अमान्य किया है' एक फुटनोट-द्वारा जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है:—

"यद्यपि दिवाकरश्री(सिद्धसेन)ने अपनी बत्तीसी (निश्चय० १९)में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतारमें आगमप्रमाणको स्वतन्त्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। इस तरह दिवाकरश्रीके ग्रन्थोंमें आगमप्रमाणको स्वतन्त्र अतिरिक्त मानने और न माननेवाली दोनों दर्शनान्तरीय धाराएँ देखी जाती हैं जिनका स्वीकार ज्ञान-बिन्दुमें उपाध्यायजीने भी किया है।" (पृ० २४)

इस फुटनोटमें जो बात निश्चयद्वात्रिंशिका और न्यायावतारके मति-श्रुत-विषयक विरोधके समन्वयमें कही गई है वही उनकी तरफसे निश्चयद्वात्रिंशिका और सन्मतिके अवधि-मनःपर्यय-विषयक विरोधके समन्वयमें भी कही जा सकती है और समझनी चाहिये। परन्तु यह सब कथन एकमात्र तीनों ग्रन्थोंकी एककर्तृत्व-मान्यतापर अवलम्बित है, जिसका साम्प्रदायिक मान्यताको छोड़कर दूसरा कोई भी प्रबल आधार नहीं है और इसलिये जब तक द्वात्रिंशिका, न्यायावतार और सन्मतिसूत्र तीनोंको एक ही सिद्धसेनकृत सिद्ध न कर दिया जाय तब तक इस कथनका कुछ भी मूल्य नहीं है। तीनों ग्रन्थोंका एक-कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं है; प्रत्युत इसके द्वात्रिंशिका और अन्य ग्रन्थोंके परस्पर विरोधी कथनोंके कारण उनका विभिन्नकर्तृक होना पाया जाता है। जान पड़ता है पं० सुखलालजीके हृदयमें यहाँ विभिन्न सिद्धसेनोंकी कल्पना ही उत्पन्न नहीं हुई और इसी लिये वे उक्त समन्वयकी कल्पना करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, जो ठीक नहीं है; क्योंकि सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन-जैसे स्वतन्त्र विचारक यदि निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता होते तो उनके लिये कोई वजह नहीं थी कि वे एक ग्रन्थमें प्रदर्शित अपने स्वतन्त्र विचारोंको दबाकर दूसरे ग्रन्थमें अपने विरुद्ध परम्पराके विचारोंका अनुसरण करते, खासकर उस हालतमें जब कि वे सन्मतिमें उपयोग-सम्बन्धी युगपद्वादादिकी प्राचीन परम्पराका खण्डन करके अपने अभेदवाद-विषयक नये स्वतन्त्र विचारोंको प्रकट करते हुए देखे जाते हैं—वहींपर वे श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान-विषयक अपने उन स्वतन्त्र

१ यह पद्य मूलमें स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकका है, वहींसे उद्धृत किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारोंको भी प्रकट कर सकते थे, जिनके लिये ज्ञानोपयोगका प्रकरण होनेके कारण वह स्थल (सन्मतिका द्वितीय काण्ड) उपयुक्त भी था; परन्तु वैसा न करके उन्होंने वहाँ उक्त द्वात्रिंशिकाके विरुद्ध अपने विचारोंको रक्खा है और इसलिये उसपरसे यही फलित होता है कि वे उक्त द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं—उसके कर्ता कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहियें। उपाध्याय यशोविजयजीने द्वात्रिंशिकाका न्यायावतार और सन्मतिके साथ जो उक्त विरोध बैठता है उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि श्रुतकी अमान्यतारूप इस द्वात्रिंशिकाके कथनका विरोध न्यायावतार और सन्मतिके साथ ही नहीं है बल्कि प्रथम द्वात्रिंशिकाके साथ भी है, जिसके 'सुनिश्चितं नः' इत्यादि ३०वें पद्यमें 'जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः' जैसे शब्दों-द्वारा अर्हत्प्रवचनरूप श्रुतको प्रमाण माना गया है।

(५) निश्चयद्वात्रिंशिकाकी दो बातें और भी यहाँ प्रकट कर देनेकी हैं, जो सन्मतिके साथ स्पष्ट विरोध रखती हैं और वे निम्न प्रकार हैं:—

"ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः। अन्योऽन्य-प्रतिपक्षत्वाच्छुद्धावगम-शक्तयः ॥१॥"

इस पद्यमें ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको मोक्ष-हेतुओंके रूपमें तीन उपाय(मार्ग) बतलाया है—तीनोंको मिलाकर मोक्षका एक उपाय निर्दिष्ट नहीं किया; जैसा कि तत्त्वार्थ-सूत्रके प्रथमसूत्रमें 'मोक्षमार्गः' इस एकवचनात्मक पदके प्रयोग-द्वारा किया गया है। अतः ये तीनों यहाँ समस्तरूपमें नहीं किन्तु व्यस्त (अलग अलग) रूपमें मोक्षके मार्ग निर्दिष्ट हुए हैं और उन्हें एक दूसरेके प्रतिपक्षी लिखा है। साथ ही तीनों सम्यक् विशेषणसे शून्य हैं और दर्शनको ज्ञानके पूर्व न रखकर उसके अनन्तर रक्खा गया है जो कि समूची द्वात्रिंशिकापरसे श्रद्धान अर्थका वाचक भी प्रतीत नहीं होता। यह सब कथन सन्मतिसूत्रके निम्न वाक्योंके विरुद्ध जाता है, जिनमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रतिपत्तिसे सम्पन्न भव्यजीवको संसारके दुःखोंका अन्तकर्तारूपमें उल्लेखित किया है और कथनको हेतुवाद सम्मत बतलाया है (३-४४) तथा दर्शन शब्दका अर्थ जिनप्रणीत पदार्थोंका श्रद्धान ग्रहण किया है। साथ ही सम्यग्दर्शनके उत्तरवर्ती सम्यग्ज्ञानको सम्यग्दर्शनसे युक्त बतलाते हुए वह इस तरह सम्यग्दर्शनरूप भी है, ऐसा प्रतिपादन किया है (२-३२, ३३):—

'एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥२-३२॥
सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥२-३३॥
भविओ सम्मद्दंसण-णाण-चरित्त-पडिवत्ति-संपण्णो।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥३-४४॥

निश्चयद्वात्रिंशिकाका यह कथन दूसरी कुछ द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध पड़ता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

"क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रिया-विहीनां च विबोधसंपदम्।
निरस्यता क्लेश-समूह-शान्तये त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥१-२९॥"

"यथाऽगद-परिज्ञानं नालमाऽऽमय-शान्तये।
अचारित्रं तथा ज्ञानं न बुद्ध्यध्व(व्य)वसायतः ॥१७-२७॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनमेंसे पहली द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें यह सूचित किया है कि 'वीरजिनेन्द्रने सम्यग्ज्ञानसे रहित क्रिया (चारित्र)को और क्रियासे विहीन सम्यग्ज्ञानकी सम्पदाको क्लेश-समूहकी शान्ति अथवा शिवप्राप्तिके लिये निष्फल एवं असमर्थ बतलाया है और इसलिये ऐसी क्रिया तथा ज्ञानसम्पदाका निषेध करते हुए ही उन्होंने मोक्षपद्धतिका निर्माण किया है।' और १७वीं द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें बतलाया है कि 'जिस प्रकार रोगनाशक औषधका परिज्ञान-मात्र रोगकी शान्तिके लिये समर्थ नहीं होता उसी प्रकार चारित्ररहित ज्ञानको समझना चाहिए—वह भी अकेला भवरोगको शान्त करनेमें समर्थ नहीं है।' ऐसी हालतमें ज्ञान दर्शन और चारित्रको अलग-अलग मोक्षकी प्राप्तिका उपाय बतलाना इन द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध ठहरता है।

"प्रयोग-विस्रसाकर्म तदभावस्थितिस्तथा । लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माऽधर्मयोः फलम् ॥१९–२४॥
आकाशमवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा । तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां वाऽन्यमुदाहृतम् ॥१९–२५॥
प्रकाशवदनिष्टं स्यात्साध्ये नार्थस्तु न श्रमः । जीव-पुद्गलयोरेव परिशुद्धः परिग्रहः ॥१९–२६॥"

इन पद्योंमें द्रव्योंकी चर्चा करते हुए धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी मान्यताको निरर्थक ठहराया है तथा जीव और पुद्गलका ही परिशुद्ध परिग्रह करना चाहिए अर्थात् इन्हीं दो द्रव्योंको मानना चाहिए, ऐसी प्रेरणा की है। यह सब कथन भी सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है; क्योंकि उसके तृतीय काण्डमें द्रव्यगत उत्पाद तथा व्यय (नाश)के प्रकारोंको बतलाते हुए उत्पादके जो प्रयोगजनित (प्रयत्नजन्य) तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) ऐसे दो भेद किये हैं उनमें वैस्रसिक उत्पादके भी समुदायकृत तथा ऐकत्विक ऐसे दो भेद निर्दिष्ट किये हैं और फिर यह बतलाया है कि ऐकत्विक उत्पाद आकाशादिक तीन द्रव्यों (आकाश, धर्म, अधर्म)में परनिमित्त-से होता है और इसलिये अनियमित होता है। नाशकी भी ऐसी ही विधि बतलाई है। इससे सन्मतिकार सिद्धसेनकी इन तीन अमूर्तिक द्रव्योंके, जो कि एक एक हैं, अस्तित्व-विषयमें मान्यता स्पष्ट है। यथा:—

"उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य विस्ससा चेव ।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो ॥३२॥
साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगत्तिओ व्व होज्जाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥३३॥
विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥३४॥"

इस तरह यह निश्चयद्वात्रिंशिका कतिपय द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिके विरुद्ध प्रतिपादनोंको लिये हुए है। सन्मतिके विरुद्ध तो वह सबसे अधिक जान पड़ती है और इसलिये किसी तरह भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं कही जा सकती। यही एक द्वात्रिंशिका ऐसी है जिसके अन्तमें उसके कर्ता सिद्धसेनाचार्यको अनेक प्रतियोंमें श्वेतपट (श्वेताम्बर) विशेषणके साथ 'द्वेष्य' विशेषणसे भी उल्लेखित किया गया है, जिसका अर्थ द्वेषयोग्य, विरोधी अथवा शत्रुका होता है और यह विशेषण सम्भवतः प्रसिद्ध जैन सैद्धान्तिक मान्यताओंके विरोधके कारण ही उन्हें अपनी ही सम्प्रदायके किसी असहिष्णु विद्वान्-द्वारा दिया गया जान पड़ता है। जिस पुष्पिकावाक्यके साथ इस विशेषण पदका प्रयोग किया गया है वह भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना और एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल (कलकत्ता)की प्रतियोंमें किस प्रकारसे पाया जाता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"द्वेष्य-श्वेतपटसिद्धसेनाचार्यस्य कृतिः निश्चयद्वात्रिंशिकैकोनविंशतिः ।"

दूसरी किसी द्वात्रिंशिकाके अन्तमें ऐसा कोई पुष्पिकावाक्य नहीं है। पूर्वकी १८ और उत्तरवर्ती १ ऐसे १९ द्वात्रिंशिकाओंके अन्तमें तो कर्ताका नाम तक भी नहीं दिया है—द्वात्रिंशिकाकी संख्यासूचक एक पंक्ति 'इति' शब्दसे युक्त अथवा वियुक्त और कहीं कहीं द्वात्रिंशिकाके नामके साथ भी दी हुई है।

(६) द्वात्रिंशिकाओंकी उपर्युक्त स्थितिमें यह कहना किसी तरह भी ठीक प्रतीत नहीं होता कि उपलब्ध सभी द्वात्रिंशिकाएँ अथवा २१वींको छोड़कर बीस द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी ही कृतियाँ हैं; क्योंकि पहली, दूसरी, पाँचवीं और उन्नीसवीं ऐसी चार द्वात्रिंशिकाओंकी बाबत हम ऊपर देख चुके हैं कि वे सन्मतिके विरुद्ध जानेके कारण सन्मतिकारकी कृतियाँ नहीं बनतीं। शेष द्वात्रिंशिकाएँ यदि इन्हीं चार द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनोंमेंसे किसी एक या एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी रचनाएँ हैं तो भिन्न व्यक्तित्वके कारण उनमेंसे कोई भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं हो सकती। और यदि ऐसा नहीं है तो उनमेंसे अनेक द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी भी कृति हो सकती हैं; परन्तु हैं और अमुक अमुक हैं यह निश्चितरूपमें उस वक्त तक नहीं कहा जा सकता जब तक इस विषयका कोई स्पष्ट प्रमाण सामने न आजाए।

(७) अब रही न्यायावतारकी बात, यह ग्रन्थ सन्मतिसूत्रसे कोई एक शताब्दीसे भी अधिक बादका बना हुआ है; क्योंकि इसपर समन्तभद्रस्वामीके उत्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्योंका ही नहीं किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्योंका भी स्पष्ट प्रभाव है। डा० हर्मन जैकोबीके मतानुसार[1] धर्मकीर्तिने दिग्नागके प्रत्यक्षलक्षण[2]में 'कल्पनापोढ' विशेषणके साथ 'अभ्रान्त' विशेषणकी वृद्धिकर उसे अपने अनुरूप सुधारा था अथवा प्रशस्तरूप दिया था और इसलिये "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" यह प्रत्यक्षका धर्मकीर्ति-प्रतिपादित प्रसिद्ध लक्षण है जो उनके न्यायबिन्दु ग्रन्थमें पाया जाता है और जिसमें 'अभ्रान्त' पद अपनी खास विशेषता रखता है। न्यायावतारके चौथे पद्यमें प्रत्यक्षका लक्षण, अकलङ्कदेवकी तरह 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' न देकर, जो "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम्" दिया है और अगले पद्यमें, अनुमानका लक्षण देते हुए, "तदभ्रान्त प्रमाणत्वात्समक्षवत्" वाक्यके द्वारा उसे (प्रत्यक्षको) 'अभ्रान्त' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे यह साफ ध्वनित होता है कि सिद्धसेनके सामने—उनके लक्ष्यमें—धर्मकीर्तिका उक्त लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें 'ग्राहक' पदके प्रयोग-द्वारा जहाँ प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ' विशेषणका निरसन अथवा वेधन किया है वहाँ उनके 'अभ्रान्त' विशेषणको प्रकारान्तरसे स्वीकार भी किया है। न्यायावतारके टीकाकार सिद्धर्षि भी 'ग्राहकं' पदके द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति)के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

"ग्राहकमिति च निर्णायकं द्रष्टव्यं, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन यत् तथागतैः प्रत्यपादि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' [न्या. बि. ४] इति, तदपास्तं भवति। तस्य युक्तिरिक्तत्वात्।"

इसी तरह 'त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानं' यह धर्मकीर्तिके अनुमानका लक्षण है। इसमें 'त्रिरूपात्' पदके द्वारा लिङ्गको त्रिरूपात्मक बतलाकर अनुमानके साधारण

१ देखो, 'समराइच्चकहा'की जैकोबीकृत प्रस्तावना तथा न्यायावतारकी डा. पी. एल. वैद्यकृत प्रस्तावना।

२ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।" (प्रमाणसमुच्चय)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। यहाँ इस अनुमानज्ञानको अभ्रान्त या भ्रान्त ऐसा कोई विशेषण नहीं दिया गया; परन्तु न्यायबिन्दुकी टीकामें धर्मोत्तरने प्रत्यक्ष-लक्षणकी व्याख्या करते और उसमें प्रयुक्त हुए 'अभ्रान्त' विशेषणकी उपयोगिता बतलाते हुए *"भ्रान्तं ह्यनुमानम्"* इस वाक्यके द्वारा अनुमानको भ्रान्त प्रतिपादित किया है। जान पड़ता है इस सबको भी लक्ष्यमें रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके "साध्याविनाभुनो(वो) लिङ्गात्साध्यनिश्चायकमनुमानं" इस लक्षणका विधान किया है और इसमें लिङ्गका 'साध्याविनाभावी' ऐसा एकरूप देकर धर्मकीर्तिके 'त्रिरूप'का—पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्व तथा विपक्षासत्वरूपका निरसन किया है। साथ ही, 'तदभ्रान्तं समक्षवत्' इस वाक्यकी योजनाद्वारा अनुमानको प्रत्यक्षकी तरह अभ्रान्त बतलाकर बौद्धोंकी उसे भ्रान्त प्रतिपादन करनेवाली उक्त मान्यताका खण्डन भी किया है। इसी तरह "न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्" इत्यादि छठे पद्यमें उन दूसरे बौद्धोंकी मान्यताका खण्डन किया है जो प्रत्यक्षको अभ्रान्त नहीं मानते। यहाँ लिङ्गके इस एकरूपका और फलतः अनुमानके उक्त लक्षणका आभारी पात्र स्वामीका वह हेतुलक्षण है जिसे न्यायावतारकी २२वीं कारिकामें *"अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्"* इस वाक्यके द्वारा उद्धृत भी किया गया है और जिसके आधारपर पात्रस्वामीने बौद्धोंके त्रिलक्षणहेतुका कदर्थन किया था तथा 'त्रिलक्षणकदर्थन'[1] नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच डाला था, जो आज अनुपलब्ध है परन्तु उसके प्राचीन उल्लेख मिल रहे हैं। विक्रमकी ८वीं-९वीं शताब्दीके बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें त्रिलक्षणकदथन-सम्बन्धी कुछ श्लोकोंको उद्धृत किया है और उनके शिष्य कमलशीलने टीकामें उन्हें "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते" इत्यादि वाक्योंके साथ दिया है। उनमेंसे तीन श्लोक नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं—

अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता। नाऽसति त्र्यंशकस्याऽपि तस्मात् क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥ १३६४॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता। दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम् ॥१३६८॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रियेण किम्?॥ १३६९॥

इनमेंसे तीसरे पद्यको विक्रमकी ७वीं-८वीं शताब्दीके[2] विद्वान् अकलङ्कदेवने अपने 'न्यायविनिश्चय' (कारिका ३२३)में अपनाया है और सिद्धिविनिश्चय (प्र० ६)में इसे स्वामीका 'अमलालीढ पद' प्रकट किया है तथा वादिराजने न्यायविनिश्चय-विवरणमें इस पद्यको पात्रकेसरीसे सम्बद्ध 'अन्यथानुपपत्तिवार्तिक' बतलाया है।

धर्मकीर्तिका समय ई० सन् ६२५से ६५० अर्थात् विक्रमकी ७वीं शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण, धर्मोत्तरका समय ई० सन् ७२५से ७५० अर्थात् विक्रमकी ८वीं शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण और पात्रस्वामीका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, क्योंकि वे अकलङ्कदेवसे कुछ पहले हुए हैं। तब सन्मतिकार सिद्धसेनका समय वि० संवत् ६६६से पूर्वका सुनिश्चित है जैसा कि अगले प्रकरणमें स्पष्ट करके बतलाया

---

१ महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्। पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥
—मल्लिषेणप्रशस्ति (श्र० शि० ५४)

२ विक्रमसंवत् ७०० में अकलङ्कदेवका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है, जैसा कि अकलङ्कचरितके निम्न पद्यसे प्रकट है—
[illegible] । कालेऽकलङ्क-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जायगा। ऐसी हालतमें जो सिद्धसेन सन्मतिके कर्ता हैं वे ही न्यायावतारके कर्ता नहीं हो सकते—समयकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक-दूसरेसे भिन्न होने चाहियें।

इस विषयमें पं० सुखलालजी आदिका यह कहना है[1] कि 'प्रो० टुची (Tousi) ने दिग्नागसे पूर्ववर्ती बौद्धन्यायके ऊपर जो एक निबन्ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके जुलाई सन् १९२९के जर्नलमें प्रकाशित कराया है उसमें बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थोंके चीनी तथा तिब्बती अनुवादके आधारपर यह प्रकट किया है कि 'योगाचार्य भूमिशास्त्र और प्रकरणार्य-वाचा नामके ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी है उसके अनुसार प्रत्यक्षको अपरोक्ष, कल्पनापोढ, निर्विकल्प और भूल-विनाका अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी होना चाहिये। साथ ही अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी शब्दोंपर नोट देते हुए बतलाया है कि ये दोनों पर्यायशब्द हैं, और चीनी तथा तिब्बती भाषाके जो शब्द अनुवादोंमें प्रयुक्त हैं उनका अनुवाद अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी दोनों प्रकारसे हो सकता है। और फिर स्वयं 'अभ्रान्त' शब्दको ही स्वीकार करते हुए यह अनुमान लगाया है कि धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें 'अभ्रान्त' शब्दकी जो वृद्धि की है वह उनके द्वारा की गई कोई नई वृद्धि नहीं है बल्कि सौत्रान्तिकोंकी पुरानी व्याख्याको स्वीकार करके उन्होंने दिग्नागकी व्याख्यामें इस प्रकारसे सुधार किया है। योगाचार्य-भूमिशास्त्र असङ्गके गुरु मैत्रेयकी कृति है, असङ्ग (मैत्रेय ?)का समय ईसाकी चौथी शताब्दीका मध्यकाल है, इससे प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' शब्दका प्रयोग तथा अभ्रान्तपनाका विचार विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके पहले भले प्रकार ज्ञात था अर्थात् यह (अभ्रान्त) शब्द सुप्रसिद्ध था। अतः सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारमें प्रयुक्त हुए मात्र 'अभ्रान्त' पदपरसे उसे धर्मकीर्तिके बादका बतलाना जरूरी नहीं। उसके कर्ता सिद्धसेनको असङ्गके बाद और धर्मकीर्तिके पहले माननेमें कोई प्रकारका अन्तराय (विघ्न-बाधा) नहीं है।'

इस कथनमें प्रो० टुचीके कथनको लेकर जो कुछ फलित किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो प्रोफेसर महाशय अपने कथनमें स्वयं भ्रान्त हैं—वे निश्चयपूर्वक यह नहीं कह रहे हैं कि उक्त दोनों मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी अथवा उसके लक्षणका जो निर्देश किया है उसमें 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग पाया ही जाता है बल्कि साफ तौरपर यह सूचित कर रहे हैं कि मूलग्रन्थ उनके सामने नहीं, चीनी तथा तिब्बती अनुवाद ही सामने है और उनमें जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है उनका अर्थ अभ्रान्त तथा अव्यभिचारि दोनों रूपसे हो सकता है। तीसरा भी कोई अर्थ अथवा संस्कृत शब्द उनका वाच्य हो सकता हो तो उसका निषेध भी नहीं किया। दूसरे, उक्त स्थितिमें उन्होंने अपने प्रयोजनके लिये जो अभ्रान्त पद स्वीकार किया है वह उनकी रुचिकी बात है न कि मूलमें अभ्रान्त-पदके प्रयोगकी कोई गारंटी है और इसलिये उसपरसे निश्चितरूपमें यह फलित कर लेना कि 'विक्रमकी पाँचवी शताब्दीके पहले प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त' पदका प्रयोग भले प्रकार ज्ञात तथा सुप्रसिद्ध था' फलितार्थ तथा कथनका अतिरेक है और किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। तीसरे, उन मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें यदि 'अव्यभिचारि' पदका ही प्रयोग हो तब भी उसके स्थानपर धर्मकीर्तिने 'अभ्रान्त' पदकी जो नई योजना की है वह उसीकी योजना कहलाएगी और न्यायावतारमें उसका अनुसरण होनेसे उसके कर्ता सिद्धसेन धर्मकीर्तिके बादके ही विद्वान् ठहरेंगे। चौथे, पात्रकेसरीस्वामीके हेतु लक्षणका जो उद्धरण न्यायावतारमें पाया जाता है और जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उससे सिद्धसेनका धर्मकीर्तिके

१ देखो, सन्मतिके गुजराती संस्करणकी प्रस्तावना पृ० ४१, ४२, और अंग्रेजी संस्करणकी प्रस्तावना पृ० १२-१४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाद होना और भी पुष्ट होता है। ऐसी हालतमें न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनको असङ्गके बादका और धर्मकीर्तिके पूर्वका बतलाना निरापद् नहीं है—उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फलतः न्यायावतार धर्मकीर्ति और पात्रस्वामीके बादकी रचना होनेसे उन सिद्धसेनाचार्यकी कृति नहीं हो सकता जो सन्मतिसूत्रके कर्ता हैं। जिन अन्य विद्वानोंने उसे अधिक प्राचीनरूपमें उल्लेखित किया है वह मात्र द्वात्रिंशिकाओं, सन्मति और न्यायावतार-को एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ मानकर चलनेका फल है।

इस तरह यहाँ तकके इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनके नामपर जो भी ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे सन्मतिसूत्रको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चितरूपमें सन्मतिकारकी कृति नहीं कहा जा सकता—अकेला सन्मतिसूत्र ही असपत्नभावसे अभीतक उनकी कृतिरूपमें स्थित है। कलको अविरोधिनी द्वात्रिंशिकाओंमेंसे यदि किसी द्वात्रिंशिकाका उनकी कृतिरूपमें सुनिश्चय हो गया तो वह भी सन्मतिके साथ शामिल हो सकेगी।

(ख) सिद्धसेनका समयादिक—

अब देखना यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्मति'के कर्ता सिद्धसेनाचार्य कब हुए हैं और किस समय अथवा समयके लगभग उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की है। ग्रन्थमें निर्माणकालका कोई उल्लेख और किसी प्रशस्तिका आयोजन न होनेके कारण दूसरे साधनोंपरसे ही इस विषय-को जाना जा सकता है और वे दूसरे साधन हैं ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण—उसके सन्दर्भ-साहित्य-की जांच-द्वारा बाह्य प्रभाव एवं उल्लेखादिका विश्लेषण—, उसके वाक्यों तथा उसमें चर्चित खास विषयोंका अन्यत्र उल्लेख, आलोचन-प्रत्यालोचन, स्वीकार-अस्वीकार अथवा खण्डन-मण्डनादिक और साथ ही सिद्धसेनके व्यक्तित्व-विषयक महत्वके प्राचीन उद्गार। इन्हीं सब साधनों तथा दूसरे विद्वानोंके इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंको लेकर मैंने इस विषयमें जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे ही यहाँपर प्रकट किया जाता है:—

(१) सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन केवलीके ज्ञान दर्शनोपयोग-विषयमें अभेदवादके पुरस्कर्ता हैं यह बात पहले (पिछले प्रकरणमें) बतलाई जा चुकी है। उनके इस अभेदवादका खण्डन इधर दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वप्रथम अकलंकदेवके राजवार्तिकभाष्यमें[1] और उधर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वप्रथम जिनभद्रक्षमाश्रमणके विशेषावश्यकभाष्य तथा विशेषणवती नामके ग्रन्थोंमें[2] मिलता है। साथ ही तृतीय काण्डकी 'णत्थि पुढवीविसिट्ठो' और 'दोहिं वि णएहिं णीयं' नामकी दो गाथाएँ (५२,४९) विशेषावश्यकभाष्यमें क्रमशः गा० नं० २१०४,२१९५ पर उद्धृत पाई जाती हैं[3]। इसके सिवाय, विशेषावश्यकभाष्यकी स्वोपज्ञटीकामें[4] 'णामाइतियं दव्वट्ठियस्स' इत्यादि गाथा ७५की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने स्वयं "द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ संग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिणः आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्" इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनाचार्यका नामोल्लेखपूर्वक उनके सन्मतिसूत्र-गत मतका उल्लेख किया है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजीके मंगसिर सुदि १०मी सं० २००५के एक पत्रसे मालूम हुआ है। दोनों

---

१ राजवा०भ ० अ० ६ सू० १० वा० १४-१६।

२ विशेषा० भा० गा० ३०८९ से (कोट्याचार्यकी वृत्तिमें गा० ३७२९से) तथा विशेषणवती गा० १८४ से २८०; सन्मति-प्रस्तावना पृ० ७५।

३ उद्धरण-विषयक विशेष ऊहापोहके लिये देखो, सन्मति-प्रस्तावना पृ० ६८, ६९।

४ इस टीकाके अस्तित्वका पता हालमें मुनि पुण्यविजयजीको चला है। देखो, श्री आत्मानन्दप्रकाश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकार विक्रमकी ७वीं शताब्दीके प्रायः उत्तरार्धके विद्वान् हैं। अकलंकदेवका विक्रम सं० ७०० में बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है जिसका उल्लेख पिछले एक फुटनोटमें अकलंकचरितके आधारपर किया जा चुका है, और जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपना विशेषावश्यकभाष्य शक सं० ५३१ अर्थात् वि० सं० ६६६ में बनाकर समाप्त किया है। ग्रन्थका यह रचनाकाल उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थके अन्तमें दिया है, जिसका पता श्री जिनविजयजीको जैसलमेर भण्डारकी एक अतिप्राचीन प्रतिको देखते हुए चला है। ऐसी हालतमें सन्मतिकार सिद्धसेनका समय विक्रम सं० ६६६से पूर्वका सुनिश्चित है परन्तु वह पूर्वका समय कौन-सा है?—कहाँ तक उसकी कमसे कम सीमा है ?—यही आगे विचारणीय है।

(२) सन्मतिसूत्रमें उपयोग-द्वयके क्रमवादका ज़ोरोंके साथ खण्डन किया गया है, यह बात भी पहले बतलाई जा चुकी तथा मूल ग्रन्थके कुछ वाक्योंको उद्धृत करके दर्शाई जा-चुकी है। उस क्रमवादका पुरस्कर्ता कौन है और उसका समय क्या है ? यह बात यहाँ खास तौरसे जान लेनेकी है। हरिभद्रसूरिने नन्दिवृत्तिमें तथा अभयदेवसूरिने सन्मतिकी टीकामें यद्यपि जिन-भद्रक्षमाश्रमणको क्रमवादके पुरस्कर्तारूपमें उल्लेखित किया है परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि वे तो सन्मतिकारके उत्तरवर्ती हैं. जबकि होना चाहिये कोई पूर्ववर्ती। यह दूसरी बात है कि उन्होंने क्रमवादका ज़ोरोंके साथ समर्थन और व्यवस्थित रूपसे स्थापन किया है, संभवतः इसीसे उनको उस वादका पुरस्कर्ता समझ लिया गया जान पड़ता है। अन्यथा, क्षमाश्रमणजी स्वयं अपने निम्न वाक्यों द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि उनसे पहले युगपद्वाद, क्रमवाद तथा अभेदवादके पुरस्कर्ता हो चुके हैं:—

"केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स ।
जं चि य केवलणाणं तं चि य से दरिसणं विंति ॥ १८५ ॥ —विशेषणवती

पं० सुखलालजी आदिने भी कथन-विरोधको महसूस करते हुए प्रस्तावनामें यह स्वीकार किया है कि जिनभद्र और सिद्धसेनसे पहले क्रमवादके पुरस्कर्तारूपमें कोई विद्वान् होने ही चाहियें जिनके पक्षका सन्मतिमें खण्डन किया गया है; परन्तु उनका कोई नाम उपस्थित नहीं किया। जहाँ तक मुझे मालूम है वे विद्वान् निर्युक्तिकार भद्रबाहु होने चाहियें, जिन्होंने आवश्यकनिर्युक्तिके निम्न वाक्य-द्वारा क्रमवादकी प्रतिष्ठा की है—

णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्सा(स्स वि) जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥ ९७८ ॥

ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली न होकर द्वितीय भद्रबाहु हैं जो अष्टाङ्गनिमित्त तथा मन्त्र-विद्याके पारगामी होनेके कारण 'नैमित्तिक'[1] कहे जाते हैं. जिनकी कृतियोंमें

---

१ पावयणी१ धम्मकही२ वाई३ णेमित्तिओ४ तवस्सी५ य ।
विज्जा६ सिद्धो७ य कई८ अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥
अजरक्ख१ नंदिसेणो२ सिरिगुत्तविणेय३ भद्दबाहू४ य ।
खवग५ऽज्जखवुड६ समिया७ दिवायरो८ वा इहाऽऽहरणा ॥२॥

—'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार' लेखमें उद्धृत।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भद्रबाहुसंहिता और उपसग्गहरस्तोत्रके भी नाम लिये जाते हैं और जो ज्योतिर्विद् वराहमिहरके सगे भाई माने जाते हैं। इन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिमें स्वयं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'प्राचीन' विशेषणके साथ नमस्कार किया है[1], उत्तराध्ययननिर्युक्तिमें मरणविभक्तिके सभी द्वारोंका क्रमशः वर्णन करनेके अनन्तर लिखा है कि 'पदार्थोंको सम्पूर्ण तथा विशद-रीतिसे जिन (केवलज्ञानी) और चतुर्दशपूर्वी[2] (श्रुतकेवली ही) कहते हैं—कह सकते हैं', और आवश्यक आदि ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक निर्युक्तियोंमें आर्यवज्र, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य और शिवभूति आदि कितने ही ऐसे आचार्योंके नामों, प्रसङ्गों, मन्तव्यों अथवा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओंका उल्लेख किया गया है जो भद्रबाहु श्रुतकेवलीके बहुत कुछ बाद हुए हैं—किसी-किसी घटनाका समय तक भी साथमें दिया है; जैसे निह्नवोंकी क्रमशः उत्पत्तिका समय वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्ष बाद तकका बतलाया है। ये सब बातें और इसी प्रकारकी दूसरी बातें भी निर्युक्तिकार भद्रबाहुको श्रुतकेवली बतलानेके विरुद्ध पड़ती हैं—भद्रबाहुश्रुतकेवलीद्वारा उनका उस प्रकारसे उल्लेख तथा निरूपण किसी तरह भी नहीं बनता। इस विषयका सप्रमाण विशद एवं विस्तृत विवेचन मुनि पुण्यविजयजीने आजसे कोई सात वर्ष पहले अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामके उस गुजराती लेखमें किया है जो 'महावीर जैनविद्यालय-रजत-महोत्सव-ग्रन्थ'में मुद्रित है[3]। साथ ही यह भी बतलाया है कि 'तित्थोगालिप्रकीर्णक, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक-हारिभद्रीया टीका परिशिष्ट-पर्व आदि प्राचीन मान्य ग्रन्थोंमें जहाँ चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु (श्रुतकेवली)का चरित्र वर्णन किया गया है वहाँ द्वादशवर्षीय दुष्काल·····छेदसूत्रोंकी रचना आदिका वर्णन तो है परन्तु वराहमिहरका भाई होना, निर्युक्तिग्रन्थों, उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहितादि ग्रन्थोंकी रचनासे तथा नैमित्तिक होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई उल्लेख नहीं है। इससे छेदसूत्रकार भद्रबाहु और निर्युक्ति आदिके प्रणेता भद्रबाहु एक दूसरेसे भिन्न व्यक्तियाँ हैं।

इन निर्युक्तिकार भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः मध्यकाल है; क्योंकि इनके समकालीन सहोदर भ्राता वराहमिहरका यही समय सुनिश्चित है—उन्होंने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका'के अन्तमें, जो कि उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अन्तकी कृति मानी जाती है, अपना समय स्वयं निर्दिष्ट किया है और वह है शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२। यथा—

"सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ। अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥८"

जब निर्युक्तिकार भद्रबाहुका उक्त समय सुनिश्चित हो जाता है तब यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं रहती कि सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्व सीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण है और उन्होंने क्रमवादके पुरस्कर्ता उक्त भद्रबाहु अथवा उनके अनुसर्ता किसी शिष्यादिके क्रमवाद-विषयक कथनको लेकर ही सन्मतिमें उसका खण्डन किया है।

---

१ वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयणाणिं। सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

२ सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो। सगलणिउणे पयत्थे जिणचउदसपुव्वि भासते ॥२३३॥

३ इससे भी कई वर्ष पहले आपके गुरु मुनि श्रीचतुरविजयजीने श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजन्मशताब्दि-स्मारकग्रन्थमें मुद्रित अपने 'श्रीभद्रबाहुस्वामी' नामक लेखमें इस विषयको प्रदर्शित किया था और यह सिद्ध किया था कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु हैं और वराहमिहरके सहोदर होनेसे उनके समकालीन हैं। उनके इस लेखका अनुवाद अनेकान्त वर्ष ३ किरण १२में प्रकाशित हो चुका है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह सिद्धसेनके समयकी पूर्व सीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण और उत्तरसीमा विक्रमकी सातवीं शताब्दीका तृतीय चरण (वि० सं० ५६२से ६६६) निश्चित होती है। इन प्रायः सौ वर्षके भीतर ही किसी समय सिद्धसेनका ग्रन्थकाररूपमें अवतार हुआ और यह ग्रन्थ बना जान पड़ता है।

(३) सिद्धसेनके समय-सम्बन्धमें पं० सुखलालजी संघवीकी जो स्थिति रही है उसको ऊपर बतलाया जा चुका है। उन्होंने अपने पिछले लेखमें, जो 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामसे 'भारतीयविद्या'के तृतीय भाग (श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ)में प्रकाशित हुआ है, अपनी उस गुजराती प्रस्तावना-कालीन मान्यताको जो सन्मतिके अंग्रेजी संस्करणके अवसरपर फोरवर्ड (foreword)[1] लिखे जानेके पूर्व कुछ नये बौद्ध ग्रन्थोंके सामने आनेके कारण बदल गई थी और जिसकी फोरवर्डमें सूचना की गई है फिरसे निश्चित-रूप दिया है अर्थात् विक्रमकी पाँचवी शताब्दीको ही सिद्धसेनका समय निर्धारित किया है और उसीको अधिक सङ्गत बतलाया है। अपनी इस मान्यताके समर्थनमें उन्होंने जिन दो प्रमाणोंका उल्लेख किया है उनका सार इस प्रकार है, जिसे प्रायः उन्हींके शब्दोंके अनुवादरूपमें सङ्कलित किया गया है:—

(प्रथम) जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपने महान् ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्यमें, जो विक्रम संवत् ६६६में बनकर समाप्त हुआ है, और लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेनदिवाकरके उपयोगाऽभेदवादकी तथैव दिवाकरकी कृति सन्मतितकके टीकाकार मल्लवादीके उपयोग-यौग-पद्यवादकी विस्तृत समालोचना की है। इससे तथा मल्लवादीके द्वादशारनयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रगणिका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती और सिद्धसेन मल्लवादीसे भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। मल्लवादीको यदि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो सिद्धसेन दिवाकरका समय जो पाँचवी शताब्दी निर्धारित किया गया है वह अधिक सङ्गत लगता है।

(द्वितीय) पूज्यपाद देवनन्दीने अपने जैनेन्द्रव्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' इस सूत्रमें सिद्धसेनके मतविशेषका उल्लेख किया है और वह यह है कि सिद्धसेनके मतानुसार 'विद्' धातुके 'र्' का आगम होता है, चाहे वह धातु सकर्मक ही क्यों न हो। देवनन्दीका यह उल्लेख बिल्कुल सच्चा है, क्योंकि दिवाकरकी जो कुछ थोड़ीसी संस्कृत कृतियाँ बची हैं उनमेंसे उनकी नवमी द्वात्रिंशिकाके २२वें पद्यमें 'विद्रतेः' ऐसा 'र्' आगम वाला प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण जब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक और अकर्मक 'विद्' धातुके 'र्' आगम स्वीकार करते हैं तब सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातुका 'र्' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय, देवनन्दी पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि नामकी तत्त्वार्थ-टीकाके सप्तम अध्यायगत १३वें सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनदिवाकरके एक पद्यका अंश 'उक्तं च' शब्दके साथ उद्धृत पाया जाता है और वह है 'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।" यह पद्यांश उनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६वें पद्यका प्रथम चरण है। पूज्यपाद देवनन्दीका समय वर्तमान मान्यतानुसार विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध है अर्थात् पाँचवीं शताब्दीके अमुक भागसे छठी शताब्दीके अमुक भाग तक लम्बा है। इससे सिद्धसेनदिवाकरकी पाँचवीं शताब्दीमें होनेकी बात जो अधिक सङ्गत कही गई है उसका खुलासा हो जाता है। दिवाकरको देवनन्दीसे

१ फोरवर्डके लेखकरूपमें यद्यपि नाम 'दलसुख मालवणिया'का दिया हुआ है परन्तु उसमें दी हुई उक्त सूचनाको पण्डित सुखलालजीने उक्त लेखमें अपनी ही सूचना और अपना ही विचार-परिवर्तन स्वीकार किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ववर्ती या देवनन्दीके वृद्ध समकालीनरूपमें मानिये तो भी उनका जीवनसमय पाँचवीं शताब्दीसे अर्वाचीन नहीं ठहरता।

इनमेंसे प्रथम प्रमाण तो वास्तवमें कोई प्रमाण ही नहीं है; क्योंकि वह 'मल्लवादीको यदि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो' इस भ्रान्त कल्पनापर अपना आधार रखता है। परन्तु क्यों मान लिया जाय अथवा क्यों मान लेना चाहिये, इसका कोई स्पष्टीकरण साथमें नहीं है। मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना प्रथम तो सिद्ध नहीं है, सिद्ध होता भी तो उन्हें जिनभद्रके समकालीन वृद्ध मानकर अथवा २५ या ५० वर्ष पहले मानकर भी उस पूर्ववर्तित्वको चरितार्थ किया जा सकता है, उसके लिये १०० वर्षसे भी अधिक समय पूर्वकी बात मान लेनेकी कोई जरूरत नहीं रहती। परन्तु वह सिद्ध ही नहीं है; क्योंकि उनके जिस उपयोग-यौगपद्यवादकी विस्तृत समालोचना जिनभद्रके दो ग्रन्थोंमें बतलाई जाती है उनमें कहीं भी मल्लवादी अथवा उनके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं है, होता तो पण्डितजी उस उल्लेखवाले अंशको उद्धृत करके ही सन्तोष धारण करते, उन्हें यह तर्क करनेकी जरूरत ही न रहती और न रहनी चाहिये थी कि 'मल्लवादीके द्वादशारनयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती हैं'। यह तर्क भी उनका अभीष्ट-सिद्धिमें कोई सहायक नहीं होता; क्योंकि एक तो किसी विद्वान्के लिये यह लाजिमी नहीं कि वह अपने ग्रन्थमें पूर्ववर्ती अमुक अमुक विद्वानोंका उल्लेख करे ही करे। दूसरे, मूल द्वादशारनयचक्रके जब कुछ प्रतीक ही उपलब्ध हैं वह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तब उसके अनुपलब्ध अंशोंमें भी जिनभद्रका अथवा उनके किसी ग्रन्थादिकका उल्लेख नहीं इसकी क्या गारण्टी? गारण्टीके न होने और उल्लेखोपलब्धिकी सम्भावना बनी रहनेसे मल्लवादीको जिनभद्रके पूर्ववर्ती बतलाना तर्कदृष्टिसे कुछ भी अर्थ नहीं रखता। तीसरे, ज्ञान-बिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनामें पण्डित सुखलालजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "अभी हमने उस सारे सटीक नयचक्रका अवलोकन करके देखा तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन (उपयोगद्वय)के सम्बन्धमें प्रचलित उपर्युक्त वादों (क्रम, युगपत्, और अभेद) पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि सन्मतितर्ककी मल्लवादि-कृत-टीका उपलब्ध नहीं है पर जब मल्लवादि अभेदसमर्थक दिवाकरके ग्रन्थपर टीका लिखें तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने दिवाकरके ग्रन्थकी व्याख्या करते समय उसीमें उनके विरुद्ध अपना युगपत् पक्ष किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं तब यह नहीं कह सकते हैं कि अभयदेवके युगपद्वादके पुरस्कर्तारूपसे मल्लवादीके उल्लेखका आधार नयचक्र या उनकी सन्मतिटीकामेंसे रहा होगा।" साथ ही, अभयदेवने सन्मतिटीकामें विशेषणवतीकी "केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा" इत्यादि गाथाओंको उद्धृत करके उनका अर्थ देते हुए 'केई' पदके वाच्यरूपमें मल्लवादीका जो नामोल्लेख किया है और उन्हें युगपद्वाद-का पुरस्कर्ता बतलाया है उनके उस उल्लेखकी अभ्रान्ततापर सन्देह व्यक्त करते हुए, पण्डित सुखलालजी लिखते हैं—"अगर अभयदेवका उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है तो अधिकसे अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादीका कोई अन्य युगपत् पक्ष-समर्थक छोटा बड़ा ग्रन्थ अभयदेवके सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्यवाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा।" और यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है कि अभयदेवसे कई शताब्दी पूर्वके प्राचीन आचार्य हरिभद्रसूरिने उक्त 'केई' पदके वाच्यरूपमें सिद्धसेनाचार्यका नाम उल्लेखित किया है, पं० सुखलालजीने उनके उस उल्लेखको महत्व दिया है तथा सन्मति-कारसे भिन्न दूसरे सिद्धसेनकी सम्भावना व्यक्त की है, और वे दूसरे सिद्धसेन उन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं जिनमें युगपद्वादका समर्थन पाया जाता है, इसे भी ऊपर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शाया जा चुका है। इस तरह जब मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना सुनिश्चित ही नहीं है तब उक्त प्रमाण और भी निःसार एवं बेकार हो जाता है। साथ ही, अभयदेवका मल्लवादी-को युगपद्वादका पुरस्कर्ता बतलाना भी भ्रान्त ठहरता है।

यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि हालमें मुनि श्रीजम्बू-विजयजीने मल्लवादीके सटीक नयचक्रका पारायण करके उसका विशेष परिचय 'श्री आत्मा-नन्दप्रकाश' (वर्ष ४५ अङ्क ७)में प्रकट किया है, उसपरसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि मल्लवादीने अपने नयचक्रमें पद-पदपर 'वाक्यपदीय' ग्रन्थका उपयोग ही नहीं किया बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरिका नामोल्लेख और भर्तृहरिके मतका खण्डन भी किया है। इन भर्तृहरिका समय इतिहासमें चीनी यात्री इत्सिङ्गके यात्राविवरणादिके अनुसार ई० सन् ६००से ६५० (वि० सं० ६५७से ७०७) तक माना जाता है; क्योंकि इत्सिङ्गने जब सन् ६९१में अपना यात्रा-वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिका देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे। और वह उस समयका प्रसिद्ध वैयाकरण था। ऐसी हालतमें भी मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते। उक्त समयादिककी दृष्टिसे वे विक्रमकी प्रायः आठवीं-नवमी शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं और तब उनका व्यक्तित्व न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तर[1]-टीकापर टिप्पण लिखनेवाले मल्लवादीके साथ एक भी हो सकता है। इस टिप्पणमें मल्लवादीने अनेक स्थानोंपर न्यायबिन्दुकी विनीतदेव-कृत-टीकाका उल्लेख किया है और इस विनीतदेवका समय राहुलसांकृत्यायनने, वादन्यायकी प्रस्तावनामें, धर्मकीर्तिके उत्तराधिकारियोंकी एक तिब्बती सूचीपरसे ई० सन् ७७५से ८०० (वि० सं० ८५७) तक निश्चित किया है।

इस सारी वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विक्रमकी १४वीं शताब्दीके विद्वान् प्रभाचन्द्रने अपने प्रभावकचरितके विजयसिंहसूरि-प्रबन्धमें बौद्धों और उनके व्यन्तरोंको वादमें जीतनेका जो समय मल्लवादीका वीरवत्सरसे ८८४ वर्ष बादका अर्थात् विक्रम सवत् ४१४ दिया है[2] और जिसके कारण ही उन्हें श्वेताम्बर समाजमें इतना प्राचीन माना जाता है तथा मुनि जिनविजयने भी जिसका एकवार पक्ष लिया है[3] उसके उल्लेखमें जरूर कुछ भूल हुई है। पं० सुखलालजीने भी उस भूलको महसूस किया है, तभी उसमें प्रायः १०० वर्षकी वृद्धि करके उसे विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध (वि० सं० ५५०) तक मान लेनेकी बात अपने इस प्रथम प्रमाणमें कही है। डा० पी० एल० वैद्य एम० ए०ने न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, इस भूल अथवा गलतीका कारण 'श्रीवीरविक्रमात्'के स्थानपर 'श्रीवीरवत्सरात्' पाठान्तरका हो जाना सुझाया है। इस प्रकारके पाठान्तरका हो जाना कोई अस्वाभाविक अथवा असंभाव्य नहीं है किन्तु सहजसाध्य जान पड़ता है। इस सुझावके अनुसार यदि शुद्ध पाठ 'वीरविक्रमात्' हो तो मल्लवादीका समय वि० सं० ८८४ तक पहुँच जाता है और यह समय मल्लवादीके जीवनका प्रायः अन्तिम समय हो सकता है और तब मल्लवादीको हरिभद्रके प्रायः समकालीन कहना होगा; क्योंकि हरिभद्रने 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना' जैसे शब्दोंके द्वारा अनेकान्तजयपताकाकी टीकामें मल्लवादीका स्पष्ट उल्लेख किया है। हरिभद्रका समय भी विक्रमकी ९वीं शताब्दीके तृतीय-

---

१ बौद्धाचार्य धर्मोत्तरका समय पं० राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायकी प्रस्तावनामें ई० स० ७२५से ७५०, (वि० सं० ७८२से ८०७) तक व्यक्त किया है।

२ श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीति-संयुक्ते। जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चाऽपि ॥८३॥

३ देखो, जैनसाहित्यसंशोधक भाग २।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ चरण तक पहुँचता है;[1] क्योंकि वि० सं० ८२७के लगभग बनी हुई भट्टजयन्तकी न्यायमञ्जरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' नामका एक पद्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयमें उद्धृत मिलता है, ऐसा न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें उद्घोषित किया है। इसके सिवाय, हरिभद्रने स्वयं शास्त्रवार्तासमुच्चयके चतुर्थस्तवनमें 'एतेनैव प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना' इत्यादि वाक्यके द्वारा बौद्धाचार्य शान्तरक्षितके मतका उल्लेख किया है और स्वोपज्ञटीकामें 'सूक्ष्मबुद्धिना'का 'शान्तरक्षितेन' अर्थ देकर उसे स्पष्ट किया है। शान्तरक्षित धर्मोत्तर तथा विनीतदेवके भी प्रायः उत्तरवर्ती हैं और उनका समय राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायके परिशिष्टोंमें ई० सन् ८४० (वि० सं० ८९७) तक बतलाया है। हरिभद्रको उनके समकालीन समझना चाहिये। इससे हरिभद्रका कथन उक्त समयमें बाधक नहीं रहता और सब कथनोंकी सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

नयचक्रके उक्त विशेष परिचयसे यह भी मालूम होता है कि उस ग्रन्थमें सिद्धसेन नामके साथ जो भी उल्लेख मिलते हैं उनमें सिद्धसेनको 'आचार्य' और 'सूरि' जैसे पदोंके साथ तो उल्लेखित किया है परन्तु 'दिवाकर' पदके साथ कहीं भी उल्लेखित नहीं किया है, तभी मुनि श्रीजम्बूविजयजीकी यह लिखनेमें प्रवृत्ति हुई है कि "आ सिद्धसेनसूरि सिद्धसेन-दिवाकरज संभवतः होवा जोइये" अर्थात् यह सिद्धसेनसूरि सम्भवतः सिद्धसेनदिवाकर ही होने चाहियें—भले ही दिवाकर नामके साथ वे उल्लेखित नहीं मिलते। उनका यह लिखना उनकी धारणा और भावनाका ही प्रतीक कहा जा सकता है; क्योंकि 'होवा जोइये'का कोई कारण साथमें व्यक्त नहीं किया गया। पं० सुखलालजीने अपने उक्त प्रमाणोंमें इन सिद्धसेनको 'दिवाकर' नामसे ही उल्लेखित किया है, जो कि वस्तुस्थितिका बड़ा ही गलत निरूपण है और अनेक भूल-भ्रान्तियोंको जन्म देने वाला है—किसी विषयको विचारके लिये प्रस्तुत करनेवाले निष्पक्ष विद्वानोंके द्वारा अपनी प्रयोजनादि-सिद्धिके लिये वस्तुस्थितिका ऐसा गलत चित्रण नहीं होना चाहिये। हाँ, उक्त परिचयसे यह भी मालूम होता है कि सिद्धसेन नामके साथ जो उल्लेख मिल रहे हैं उनमेंसे कोई भी उल्लेख सिद्धसेनदिवाकरके नामपर चढ़े हुए उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे किसीमें भी नहीं मिलता है। नमूनेके तौरपर जो दो उल्लेख[2] परिचयमें उद्धृत किये गये हैं उनका विषय प्रायः शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा शब्दनयादिसे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है। इससे भी सिद्धसेनके उन उल्लेखोंको दिवाकरके उल्लेख बतलाना व्यर्थ ठहरता है।

रही द्वितीय प्रमाणकी बात, उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तीसरी और छठी द्वात्रिंशिकाके कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे पूज्यपाद देवनन्दीसे पहले हुए हैं—उनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी भी हो सकता है। इससे अधिक यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मति-सूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी पूज्यपाद देवनन्दीसे पहले अथवा विक्रमकी ५वीं शताब्दीमें हुए हैं।

---

१. ६वीं शताब्दीके द्वितीय चरण तकका समय तो मुनि जिनविजयजीने भी अपने हरिभद्रके समय-निर्णयवाले लेखमें बतलाया है। क्योंकि विक्रमसंवत् ८३५ (शक सं० ७००)में बनी हुई कुवलय-मालामें उद्योतनसूरिने हरिभद्रको न्यायविद्यामें अपना गुरु लिखा है। हरिभद्रके समय, संयतजीवन और उनके साहित्यिक कार्योंकी विशालताको देखते हुए उनकी आयुका अनुमान सौ वर्षके लगभग लगाया जा सकता है और वे मल्लवादीके समकालीन होनेके साथ-साथ कुवलयमालाकी रचनाके कितने ही वर्ष बाद तक जीवित रह सकते हैं।

२ "तथा च आचार्यसिद्धसेन आह—
"यत्र ह्यर्थो वाचं व्यभिचरति न (ना) भिधानं तत् ॥" [वि० २७७]
"अस्ति-भवति-विद्यति-वर्तयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्था इत्यविशेषणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा।" [वि. १६६

द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हैं। सकल ई [illegible]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसको सिद्ध करनेके लिये पहले यह सिद्ध करना होगा कि सन्मतिसूत्र और तीसरी तथा नवमी द्वात्रिंशिकाएँ तीनों एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं। और यह सिद्ध नहीं है। पूज्यपादसे पहले उपयोगद्वयके क्रमवाद तथा अभेदवादके कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धिमें सनातनसे चले आये युगपद्वादका प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादोंका खण्डन जरूर करते परन्तु ऐसा नहीं है[1], और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपादके समयमें केवलीके उपयोग-विषयक क्रमवाद तथा अभेदवाद प्रचलित नहीं हुए थे—वे उनके बाद ही सविशेषरूपसे घोषित तथा प्रचारको प्राप्त हुए हैं, और इसीसे पूज्यपादके बाद अकलङ्कादिकके साहित्यमें उनका उल्लेख तथा खण्डन पाया जाता है। क्रमवादका प्रस्थापन निर्युक्तिकार भद्रबाहुके द्वारा और अभेदवादका प्रस्थापन सन्मतिकार सिद्धसेनके द्वारा हुआ है। उन वादोंके इस विकासक्रमका समर्थन जिनभद्रकी विशेषणवती-गत उन दो गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि नम्बर १८४, १८५)से भी होता है जिनमें युगपत्, क्रम और अभेद इन तीनों वादोंके पुरस्कर्ताओंका इसी क्रमसे उल्लेख किया गया है और जिन्हें ऊपर (न० २में) उद्धृत किया जा चुका है।

पं० सुखलालजीने निर्युक्तिकार भद्रबाहुको प्रथम भद्रबाहु और उनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी मान लिया है[2], इसीसे इन वादोंके क्रम-विकासको समझनेमें उन्हें भ्रान्ति हुई है। और वे यह प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं कि पहले क्रमवाद था, युगपत्वाद बादको सबसे पहले वाचक उमास्वाति[3]-द्वारा जैन वाङ्मयमें प्रविष्ट हुआ और फिर उसके बाद अभेदवादका प्रवेश मुख्यतः सिद्धसेनाचार्यके द्वारा हुआ है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो युगपत्वादका प्रतिवाद भद्रबाहुकी आवश्यकनियुक्तिके "सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो णत्थि उवओगा" इस वाक्यमें पाया जाता है जो भद्रबाहुको दूसरी शताब्दीका विद्वान् माननेके कारण उमास्वातिके पूर्वका[4] ठहरता है और इसलिये उनके विरुद्ध जाता है। दूसरे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार-जैसे ग्रन्थों और आचार्य भूतबलिके षट्खण्डागममें भी युगपत्वादका स्पष्ट विधान पाया जाता है। ये दोनों आचार्य उमास्वातिके पूर्ववर्ती[5] हैं और इनके युगपद्वाद-विधायक वाक्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥" (णियम० १५९)।

"सयं भयवं उप्पण्ण-णाण-दरिसी सदेवाऽसुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्व समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।"—(षट्खण्डा० ४ पयडि अ० सू० ७८)।

१ "स उपयोगो द्विविधः। ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ·····साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।"

२ ज्ञानबिन्दु-परिचय पृ० ५, पादटिप्पण।

३ "मतिज्ञानादिचतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।"
—तत्त्वार्थभाष्य १-३१।

४ उमास्वातिवाचकको पं० सुखलालजीने विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीके मध्यका विद्वान् बतलाया है। (ज्ञा० वि० परि० पृ० ५४)।

५ इस पूर्ववर्तित्वका उल्लेख श्रवणबेल्गोलादिके शिलालेखों तथा अनेक ग्रन्थप्रशस्तियोंमें पाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी हालतमें युगपत्वादकी सर्वप्रथम उत्पत्ति उमास्वातिसे बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, जैनवाङ्मयमें इसकी अविकल धारा अतिप्राचीन कालसे चली आई है। यह दूसरी बात है कि क्रम तथा अभेदकी धाराएँ भी उसमें कुछ बादको शामिल होगई हैं; परन्तु विकास-क्रम युगपत्वादसे ही प्रारम्भ होता है जिसकी सूचना विशेषणवतीकी उक्त गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि)से भी मिलती है। दिगम्बराचार्य श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र और पूज्यपादके ग्रन्थोंमें क्रमवाद तथा अभेदवादका कोई ऊहापोह अथवा खण्डन न होना पं० सुखलालजीको कुछ अखरा है; परन्तु इसमें अखरनेकी कोई बात नहीं है। जब इन आचार्योंके सामने ये दोनों वाद आए ही नहीं तब वे इन वादोंका ऊहापोह अथवा खण्डनादिक कैसे कर सकते थे ? अकलङ्कके सामने जब ये वाद आए तब उन्होंने उनका खण्डन किया ही है; चुनाँचे पं० सुखलालजी स्वयं ज्ञानबिन्दुके परिचयमें यह स्वीकार करते हैं कि "ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलङ्ककी कृतियोंमें पाते हैं।" और इसलिये उनसे पूर्वकी—कुन्दकुन्द, समन्तभद्र तथा पूज्यपादकी—कृतियोंमें उन वादोंकी कोई चर्चाका न होना इस बातको और भी साफ तौरपर सूचित करता है कि इन दोनों वादोंकी प्रादुर्भूति उनके समयके बाद हुई है। सिद्धसेनके सामने ये दोनों वाद थे—दोनोंकी चर्चा सन्मतिमें की गई है—अतः ये सिद्धसेन पूज्यपादके पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। पूज्यपादने जिन सिद्धसेनका अपने व्याकरणमें नामोल्लेख किया है वे कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहियें।

यहाँपर एक खास बात नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि पं० सुखलालजी सिद्धसेनको पूज्यपादसे पूर्ववर्ती सिद्ध करनेके लिये पूज्यपादीय जैनेन्द्र व्याकरणका उक्त सूत्र तो उपस्थित करते हैं परन्तु उसी व्याकरणके दूसरे समकक्ष सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" को देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं—उसके प्रति गजनिमीलन-जैसा व्यवहार करते हैं—और ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावना (पृ० ५५)में विना किसी हेतुके ही यहाँ तक लिखनेका साहस करते हैं कि 'पूज्यपादके उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समन्तभद्र"ने अमुक उल्लेख किया! साथ ही, इस बातको भी भुला जाते हैं कि सन्मतिकी प्रस्तावनामें वे स्वयं पूज्यपादको समन्तभद्रका उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूपसे प्रसिद्ध इन दोनों जैनाचार्योंका उल्लेख पूज्यपादने अपने व्याकरणके उक्त सूत्रोंमें किया है, उनका कोई भी प्रकारका प्रभाव पूज्यपादकी कृतियोंपर होना चाहिये।' मालूम नहीं फिर उनके इस साहसिक कृत्यका क्या रहस्य है! और किस अभिनिवेशके वशवर्ती होकर उन्होंने अब यों ही चलती कलमसे समन्तभद्रको पूज्यपादके उत्तरवर्ती कह डाला है !! इसे अथवा इसके औचित्यको वे ही स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे विद्वान् तो इसमें कोई औचित्य एवं न्याय नहीं देखते कि एक ही व्याकरण ग्रन्थमें उल्लेखित दो विद्वानोंमेंसे एकको उस ग्रन्थकारके पूर्ववर्ती और दूसरेको उत्तरवर्ती बतलाया जाय और वह भी विना किसी युक्तिके। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित सुखलालजीकी बहुत पहलेसे यह धारणा बनी हुई है कि सिद्धसेन समन्तभद्रके पूर्ववर्ती हैं और वे जैसे तैसे उसे प्रकट करनेके लिये कोई भी अवसर चूकते नहीं हैं। हो सकता है कि उसीकी धुनमें उनसे यह कार्य बन गया हो, जो उस प्रकटीकरणका ही एक प्रकार है; अन्यथा वैसा कहनेके लिये कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं है।

पूज्यपाद समन्तभद्रके पूर्ववर्ती नहीं किन्तु उत्तरवर्ती हैं, यह बात जैनेन्द्रव्याकरणके उक्त "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्रसे ही नहीं किन्तु श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों आदिसे भी भले प्रकार जानी जाती है[1]। पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि'पर समन्तभद्रका स्पष्ट प्रभाव है, इसे

१ देखो, श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० ४० (६४); १०८ (२५८); 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १४१-१५३; तथा 'जैनसाहित्य' वर्ष ६ अङ्क १५-१६में प्रकाशित 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें स्पष्ट करके बतलाया जा चुका है[1]। समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड'का 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यम्' नामका शास्त्रलक्षणवाला पूरा पद्य न्यायावतारमें उद्धृत है, जिसको रत्नकरण्डमें स्वाभाविकी और न्यायावतारमें उद्धरण-जैसी स्थितिको खूब खोलकर अनेक युक्तियोंके साथ अन्यत्र दर्शाया जा चुका है[2]—उसके प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना-जैसी बात भी अब नहीं रही; क्योंकि एक तो न्यायावतारका समय अधिक दूरका न रहकर टीकाकार सिद्धर्षिके निकट पहुँच गया है दूसरे उसमें अन्य कुछ वाक्य भी समर्थनादिके रूपमें उद्धृत पाये जाते हैं। जैसे "साध्याविनाभुवो हेतोः" जैसे वाक्यमें हेतुका लक्षण आजानेपर भी "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्" इस वाक्यमें उन पात्रस्वामीके हेतु-लक्षणको उद्धृत किया गया है जो समन्तभद्रके देवागमसे प्रभावित होकर जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। इसी तरह "दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्" इत्यादि आठवें पद्यमें शाब्द (आगम) प्रमाणका लक्षण आजानेपर भी अगले पद्यमें समन्तभद्रका "आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्" इत्यादि शास्त्रका लक्षण समर्थनादिके रूपमें उद्धृत हुआ समझना चाहिये। इसके सिवाय, न्यायावतारपर समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा)का भी स्पष्ट प्रभाव है; जैसा कि दोनों ग्रन्थोंमें प्रमाणके अनन्तर पाये जानेवाले निम्न वाक्योंकी तुलनापरसे जाना जाता है:—

"उपेक्षा फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः ।
पूर्वा(र्वं) वाऽज्ञान-नाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे ॥१०२॥" (देवागम)

"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञान-विनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे[3] शेषस्याऽऽदान-हान धीः ॥२८॥" (न्यायावतार)

ऐसी स्थितिमें व्याकरणादिके कर्ता पूज्यपाद और न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन दोनों ही स्वामी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं, इसमें संदेहके लिये कोई स्थान नहीं है। सन्मति-सूत्रके कर्ता सिद्धसेन चूँकि निर्युक्तिकार एवं नैमित्तिक भद्रबाहुके बाद हुए हैं—उन्होंने भद्रबाहु के द्वारा पुरस्कृत उपयोग-क्रमवादका खण्डन किया है—और इन भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, यही समय सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्वसीमा है, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। पूज्यपाद इस समयसे पहले गङ्गवंशी राजा अविनीत (ई० सन् ४३०-४८२) तथा उसके उत्तराधिकारी दुर्विनीतके समयमें हुए हैं और उनके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम संवत् ५२६में द्राविडसंघकी स्थापना की है जिसका उल्लेख देवसेनसूरिके दर्शनसार (वि० सं० ९९०) ग्रन्थमें मिलता है[4]। अतः सन्मतिकार सिद्धसेन पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं, पूज्यपादके उत्तरवर्ती होनेसे समन्तभद्रके भी उत्तरवर्ती हैं, ऐसा सिद्ध होता है। और इसलिये समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्र तथा आप्तमीमांसा (देवागम) नामक दो

पाठक' शीर्षक लेख पृ० १८-२३, अथवा 'दि एन्नल्स ऑफ दि भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिटयूट पूना वोल्यूम १५ पार्ट १-२में प्रकाशित Samantabhadra's date and Dr. K. B. Pathak पृ० ८१-८८।

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११ पृ० ३४९-३५२।

२ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १२६-१३१ तथा अनेकान्त वर्ष ९ कि० १से ४में प्रकाशित 'रत्नकरण्डके कर्तृत्वविषयमें मेरा विचार और निर्णय' नामक लेख पृ० १०२-१०४।

३ यहाँ 'उपेक्षा'के साथ सुखकी वृद्धि की गई है, जिसका अज्ञाननिवृत्ति तथा उपेक्षा(रागादिककी निवृत्तिरूप अनासक्ति)के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

४ "सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२५॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थोंकी सिद्धसेनीय सन्मतिसूत्रके साथ तुलना करके पं० सुखलालजीने दोनों आचार्योंके इन ग्रन्थोंमें जिस 'वस्तुगत पुष्कल साम्य'की सूचना सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६६)में की है उसके लिये सन्मतिसूत्रको अधिकांशमें सामन्तभद्रीय ग्रन्थोंके प्रभावादिका आभारी समझना चाहिये। अनेकान्त-शासनके जिस स्वरूप-प्रदर्शन एवं गौरव-ख्यापनकी ओर समन्तभद्रका प्रधान लक्ष्य रहा है उसीको सिद्धसेनने भी अपने ढङ्गसे अपनाया है। साथ ही सामान्य-विशेष-मातृक नयोंके सर्वथा-असर्वथा, सापेक्ष-निरपेक्ष और सम्यक्-मिथ्यादि-स्वरूपविषयक समन्तभद्रके मौलिक निर्देशोंको भी आत्मसात् किया है। सन्मतिका कोई कोई कथन समन्तभद्रके कथनसे कुछ मतभेद अथवा उसमें कुछ वृद्धि या विशेष आयोजनको भी साथमें लिये हुए जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा ॥३-६०॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'पदार्थोंकी प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेदको आश्रित करके ठीक होती है;' जब कि समन्तभद्रने "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" जैसे वाक्योंके द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टय-को ही पदार्थप्ररूपणका मुख्य साधन बतलाया है। इससे यह साफ जाना जाता है कि समन्त-भद्रके उक्त चतुष्टयमें सिद्धसेनने बादको एक दूसरे चतुष्टयकी और वृद्धि की है, जिसका पहलेसे पूर्वके चतुष्टयमें ही अन्तर्भाव था।

रही द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनकी बात, पहली द्वात्रिंशिकामें एक उल्लेख-वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है, जो इस विषयमें अपना खास महत्व रखता है:—

य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥

इसमें बतलाया है कि 'हे वीरजिन! यह जो षट् प्रकारके जीवोंके निकायों (समूहों) का विस्तार है और जिसका मार्ग दूसरोंके अनुभवमें नहीं आया वह आपके द्वारा उदित हुआ —बतलाया गया अथवा प्रकाशमें लाया गया है। इसीसे जो सर्वज्ञकी परीक्षा करनेमें समर्थ हैं वे (आपको सर्वज्ञ जानकर) प्रसन्नताके उदयरूप उत्सवके साथ आपमें स्थित हुए हैं—बड़े प्रसन्नचित्तसे आपके आश्रयमें प्राप्त हुए और आपके भक्त बने हैं।' वे समर्थ-सर्वज्ञ-परीक्षक कौन हैं जिनका यहाँ उल्लेख है और जो आप्तप्रभु वीरजिनेन्द्रकी सर्वज्ञरूपमें परीक्षा करनेके अनन्तर उनके सुदृढ़ भक्त बने हैं? वे हैं स्वामी समन्तभद्र, जिन्होंने आप्तमीमांसा द्वारा सबसे पहले सर्वज्ञकी परीक्षा[1] की है, जो परीक्षाके अनन्तर वीरकी स्तुतिरूपमें 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रके रचनेमें प्रवृत्त हुए हैं[2] और जो स्वयम्भू स्तोत्रके निम्न पद्योंमें सर्वज्ञका उल्लेख करते हुए उसमें अपनी स्थिति एवं भक्तिको "त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्" इस वाक्यके द्वारा स्वयं व्यक्त

१ अकलङ्कदेवने भी 'अष्टशती' भाष्यमें आप्तमीमांसाको "सर्वज्ञविशेषपरीक्षा" लिखा है और वादि-राजसूरिने पार्श्वनाथचरितमें यह प्रतिपादित किया है कि 'उसी देवागम(आप्तमीमांसा)के द्वारा स्वामी (समन्तभद्र)ने आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है':—

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य न विस्मयावहम्। देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥"

२ युक्त्यनुशासनकी प्रथमकारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' पदका अर्थ श्रीविद्यानन्दने टीकामें "अस्मिन् काले परीक्षाऽवसानसमये" दिया है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाके बाद युक्त्यनुशासनकी रचनाको सूचित किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, जो कि "त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः" इस वाक्यका स्पष्ट मूलाधार जान पड़ता है :—

बहिरन्तरप्युभयथा च, करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥१२९॥

अत एव ते बुध-नुतस्य, चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहितमवधार्य जिने, त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

इन्हीं स्वामी समन्तभद्रको मुख्यतः लक्ष्य करके उक्त द्वात्रिंशिकाके अगले दो पद्य[1] कहे गये जान पड़ते हैं, जिनमेंसे एकमें उनके द्वारा अर्हन्तमें प्रतिपादित उन दो दो बातोंका उल्लेख है जो सर्वज्ञ-विनिश्चयकी सूचक हैं और दूसरेमें उनके प्रथित यशकी मात्राका बड़े गौरवके साथ कीर्तन किया गया है। अतः इस द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन भी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रका शैलीगत, शब्दगत और अर्थगत कितना ही साम्य भी इसमें पाया जाता है, जिसे अनुसरण कह सकते हैं, और जिसके कारण इस द्वात्रिंशिकाको पढ़ते हुए कितनी ही वार इसके पदविन्यासादिपरसे ऐसा भान होता है मानो हम स्वयम्भूस्तोत्र पढ़ रहे हैं। उदाहरणके तौरपर स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जैसे उपजाति-छन्दमें 'स्वयम्भुवा भूत' शब्दोंसे होता है वैसे ही इस द्वात्रिंशिकाका प्रारम्भ भी उपजाति-छन्दमें 'स्वयम्भुवं भूत' शब्दोंसे होता है। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस प्रकार समन्त, संहृत, गत, उदित, समीक्ष्य, प्रवादिन्, अनन्त, अनेकान्त-जैसे कुछ विशेष शब्दोंका; मुने, नाथ, जिन, वीर-जैसे सम्बोधन-पदोंका और १ जितक्षुल्लकवादिशासनः, २ स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः, ३ नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः, ४ शेरते प्रजाः, ५ अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि, ६ नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयः, ७ अचिन्त्यमीहितम्, आर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं, ८ सहस्राक्षः, ९ त्वद्द्विषः, १० शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं···वपुः, ११ स्थिता वयं-जैसे विशिष्ट पद-वाक्योंका प्रयोग पाया जाता है उसी प्रकार पहली द्वात्रिंशिकामें भी उक्त शब्दों तथा सम्बोधन पदोंके साथ १ प्रपञ्चित-क्षुल्लकतर्कशासनैः, २ स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सराः, ३ परैरनालीढपथस्त्वयोदितः, ४ जगत्··· शेरते, ५ त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली···भारती, ६ समीक्ष्यकारिणः, ७ अचिन्त्यमाहात्म्यं, ८ भूतसहस्रनेत्रं, ९ त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः, १० वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं, ११ स्थिता वयं-जैसे विशिष्ट पद-वाक्योंका प्रयोग देखा जाता है, जो यथाक्रम स्वयम्भूस्तोत्रगत उक्त पदोंके प्रायः समकक्ष हैं। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस तरह जिनस्तवनके साथ जिनशासन—जिनप्रवचन तथा अनेकान्तका प्रशंसन एवं महत्व ख्यापन किया गया है और वीरजिनेन्द्रके शासन-माहात्म्यको 'तव जिनशासनविभवः जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः' जैसे शब्दोंद्वारा कलिकालमें भी जयवन्त बतलाया गया है उसी तरह इस द्वात्रिंशिकामें भी जिनस्तुतिके साथ जिनशासनादिका संक्षेपमें कीर्तन किया गया है और वीरभगवानको 'सच्छासनवर्द्धमान' लिखा है।

इस प्रथम द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन ही यदि अगली चार द्वात्रिंशिकाओंके भी कर्ता हैं, जैसा कि पं० सुखलालजीका अनुमान है, तो ये पाँचों ही द्वात्रिंशिकाएँ, जो वीरस्तुति-से सम्बन्ध रखती हैं और जिन्हें मुख्यतया लक्ष्य करके ही आचार्य हेमचन्द्रने 'क सिद्धसेन-

---

१ "वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं पराऽनुकम्पा सफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञ-विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसभिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूहसंहताः काशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥१५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तुतयो महार्थाः' जैसे वाक्यका उच्चारण किया जान पड़ता है, स्वामी समन्तभद्रके उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इन सभीपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंकी छाया पड़ी हुई जान पड़ती है।

इस तरह स्वामी समन्तभद्र न्यायावतारके कर्ता, सन्मतिके कर्ता और उक्त द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता तीनों ही सिद्धसेनोंसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उनका समय विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जैसा कि दिगम्बर पट्टावली[1]में शकसंवत् ६० (वि० सं० १९५)के उल्लेखानुसार दिगम्बर समाजमें आमतौरपर माना जाता है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें उन्हें 'सामन्तभद्र' नामसे उल्लेखित किया है और उनके समयका पट्टाचायरूपमें प्रारम्भ वीरनिर्वाणसंवत् ६४३ अर्थात् वि० सं० १७३से बतलाया है। साथ ही यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्यने वीर नि० सं० ६९५ (वि० सं० २२५)[2] में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रथम चरण तक पहुँच जाती है[3]। इससे संमय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायोंका कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।

ऐसी वस्तुस्थितिमें पं० सुखलालजीका अपने एक दूसरे लेख 'प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर'में, जो कि 'भारतीयविद्या'के उसी अङ्क (तृतीय भाग)में प्रकाशित हुआ है, इन तीनों ग्रन्थोंके कर्ता तीन सिद्धसेनोंको एक ही सिद्धसेन बतलाते हुए यह कहना कि 'यही सिद्धसेन दिवाकर "आदि जैनतार्किक"—"जैन परम्परामें तर्कविद्याका और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मयका आदि प्रणेता", "आदि जैनकवि", "आदि जैनस्तुतिकार", "आद्य जैनवादी" और "आद्य जैनदार्शनिक" है' क्या अर्थ रखता है और कैसे सङ्गत हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सिद्धसेनके व्यक्तित्व और इन सब विषयोंमें उनकी विद्या-योग्यता एवं प्रतिभाके प्रति बहुमान रखते हुए भी स्वामी समन्तभद्रकी पूर्वस्थिति और उनके अद्वितीय-अपूर्व साहित्यकी पहलेसे मौजूदगीमें मुझे इन सब उद्गारोंका कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता और न पं० सुखलालजीके इन कथनोंमें कोई सार ही जान पड़ता है कि—(क) 'सिद्धसेनका सन्मति प्रकरण जैनदृष्टि और जैन मन्तव्योंको तर्कशैलीसे स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैनवाङ्मयमें सर्वप्रथम ग्रन्थ है' तथा (ख) स्वामी समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन नामक ये दो दार्शनिक स्तुतियाँ सिद्धसेनकी कृतियोंका अनुकरण हैं'। तर्कादि-विषयोंमें समन्भद्रकी योग्यता और प्रतिभा किसीसे भी कम नहीं किन्तु सर्वोपरि रही है, इसीसे अकलङ्कदेव और विद्यानन्दादि-जैसे महान् तार्किकों-दार्शनिकों एवं वादविशारदों आदिने उनके यशका खुला गान किया है; भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें उनके यशको कवियों, गमकों, वादियों तथा वादियोंके मस्तकपर चूड़ामणिकी तरह सुशोभित बतलाया है (इसी यशका पहली द्वात्रिंशिकाके 'तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः' जैसे शब्दोंमें उल्लेख है) और साथ ही उन्हें कविब्रह्मा—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला विधाता—लिखा है तथा उनके वचन-रूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये, ऐसा उल्लेख भी किया है[4]। और इसलिये

१ देखो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डा० भाण्डारकरकी सन् १८८३ ८४की रिपोर्ट पृ० ३२०; मिस्टर लेविस राइसकी 'इन्स्क्रिपशन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल'की प्रस्तावना और कर्णाटक-शब्दानुशासनकी भूमिका।

२ कुछ पट्टावलियोंमें यह समय वी० नि० सं० ५९५ अथवा विक्रमसंवत् १२५ दिया है जो किसी गलतीका परिणाम है और मुनि कल्याणविजयने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली'में उसके सुधारकी सूचना की है।

३ देखो, मुनिश्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली' पृ० ७९-८१।

४ विशेषके लिये देखो, 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' पृ० २५से ५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध जैनवाङ्मयमें समयादिककी दृष्टिसे आद्य तार्किकादि होनेका यदि किसीको मान अथवा श्रेय प्राप्त है तो वह स्वामी समन्तभद्रको ही प्राप्त है। उनके देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या (जिनशतक) जैसे ग्रन्थ आज भी जैनसमाजमें अपनी जोड़का कोई ग्रन्थ नहीं रखते। इन्हीं ग्रन्थोंको मुनि कल्याणविजयजीने भी उन निर्ग्रन्थ-चूड़ामणि श्रीसमन्तभद्रकी कृतियाँ बतलाया है जिनका समय भी श्वेताम्बर मान्यतानुसार विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है[1]। तब सिद्धसेनको विक्रमकी ५वीं शताब्दीका मान लेनेपर भी समन्तभन्द्रकी किसी कृतिको सिद्धसेनकी कृतिका अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि पं० सुखलालजीने सन्मतिकार सिद्धसेनको विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् सिद्ध करनेके लिये जो प्रमाण उपस्थित किये हैं वे उस विषयको सिद्ध करनेके लिये बिल्कुल असमर्थ हैं। उनके दूसरे प्रमाणसे जिन सिद्धसेनका पूज्यपादसे पूर्ववर्तित्व एवं विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें होना पाया जाता है वे कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता हैं न कि सन्मतिसूत्रके, जिसका रचनाकाल निर्युक्तिकार भद्रबाहुके समयसे पूर्वका सिद्ध नहीं होता और इन भद्रबाहुका समय प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् मुनि श्रीचतुर-विजयजी और मुनिश्री पुण्यविजयजीने भी अनेक प्रमाणोंके आधारपर विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रायः तृतीय चरण तकका निश्चित किया है। पं० सुखलालजीका उसे विक्रमकी दूसरी शताब्दी बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः सन्मतिकार सिद्धसेनका जो समय विक्रमकी छठी शताब्दीके तृतीय चरण और सातवीं शताब्दीके तृतीय चरणका मध्यवर्ती काल निर्धारित किया गया है वही समुचित प्रतीत होता है, जब तक कि कोई प्रबल प्रमाण उसके विरोधमें सामने न लाया जावे। जिन दूसरे विद्वानोंने इस समयसे पूर्वकी अथवा उत्तरसमयकी कल्पना की है वह सब उक्त तीन सिद्धसेनोंको एक मानकर उनमेंसे किसी एकके ग्रन्थको मुख्य करके की गई है अर्थात् पूर्वका समय कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके उल्लेखोंको लक्ष्य करके और उत्तरका समय न्यायावतारको लक्ष्य करके कल्पित किया गया है। इस तरह तीन सिद्धसेनोंकी एकत्वमान्यता ही सन्मतिसूत्रकारके ठीक समय-निर्णयमें प्रबल बाधक रही है, इसीके कारण एक सिद्धसेनके विषय अथवा तत्सम्बन्धी घटनाओंको दूसरे सिद्धसेनोंके साथ जोड़ दिया गया है, और यही वजह है कि प्रत्येक सिद्धसेनका परिचय थोड़ा-बहुत खिचड़ी बना हुआ है।

(ग) सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन—

अब विचारणीय यह है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन किस सम्प्रदायके आचार्य थे अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं या श्वेताम्बर सम्प्रदायसे और किस रूपमें उनका गुण-कीर्तन किया गया है। आचार्य उमास्वाति(मी) और स्वामी समन्तभद्रकी तरह सिद्धसेनाचार्यकी भी मान्यता दोनों सम्प्रदायोंमें पाई जाती है। यह मान्यता केवल विद्वत्ताके नाते आदर-सत्कारके रूपमें नहीं और न उनके किसी मन्तव्य अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित किसी वस्तुतत्व या सिद्धान्त-विशेषका ग्रहण करनेके कारण ही है बल्कि उन्हें अपने अपने सम्प्रदायके गुरुरूपमें माना गया है, गुर्वावलियों तथा पट्टावलियोंमें उनका उल्लेख किया गया है और उसी गुरुदृष्टिसे उनके स्मरण, अपनी गुणज्ञताको साथमें व्यक्त करते हुए, लिखे गये हैं अथवा उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेनको सेनगण (संघ)का आचार्य माना जाता है और सेनगणकी पट्टावली[2]में उनका उल्लेख है। हरिवंश-

१ तपागच्छपट्टावली भाग पहला पृ० ८०। २ जैनसिद्धान्तभास्कर किरण १ पृ० ३८।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुराणको शकसम्वत् ७०५में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने पुराणके अन्तमें दी हुई अपनी गुर्वावलीमें सिद्धसेनके नामका भी उल्लेख किया है[1] और हरिवंशके प्रारम्भमें समन्तभद्रके स्मरणानन्तर सिद्धसेनका जो गौरवपूर्ण स्मरण किया है वह इस प्रकार है:—

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः । बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥३०॥

इसमें बतलाया है कि 'सिद्धसेनाचार्यकी निर्मल सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) जगत्-प्रसिद्ध-बोध (केवलज्ञान)के धारक (भगवान्) वृषभदेवकी निर्दोष सूक्तियोंकी तरह सत्पुरुषोंकी बुद्धिको बोधित करती हैं—विकसित करती हैं।'

यहाँ सूक्तियोंमें सन्मतिके साथ कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी उक्तियाँ भी शामिल समझी जा सकती हैं।

उक्त जिनसेन-द्वारा प्रशंसित भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें सिद्धसेनको अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनका जो महत्वका कीर्तन एवं जयघोष किया है वह यहाँ खासतौरसे ध्यान देने योग्य है:—

"कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः । मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ।
प्रवादि-करियूथानां केशरी नयकेशरः । सिद्धसेन-कविर्जीयाद्विकल्प-नखरांकुरः ॥"

इन पद्योंमेंसे प्रथम पद्यमें भगवज्जिनसेन, जो स्वयं एक बहुत बड़े कवि हुए हैं, लिखते हैं कि 'कवि तो (वास्तवमें) सिद्धसेनादिक हैं, हम तो कवि मान लिये गये हैं। (जैसे) मणि तो वास्तवमें पद्मरागादिक हैं किन्तु काच भी (कभी कभी किन्हींके द्वारा) मेचकमणि समझ लिया जाता है।' और दूसरे पद्यमें यह घोषणा करते हैं कि 'जो प्रवादिरूप हाथियोंके समूहके लिये विकल्परूप-नुकीले नखोंसे युक्त और नयरूप केशरोंको धारण किये हुए केशरी-सिंह हैं वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों—अपने प्रवचन-द्वारा मिथ्यावादियोंके मतोंका निरसन करते हुए सदा ही लोकहृदयोंमें अपना सिक्का जमाए रक्खें—अपने वचन-प्रभावको अङ्कित किये रहें।'

यहाँ सिद्धसेनका कविरूपमें स्मरण किया गया है और उसीमें उनके वादित्वगुणको भी समाविष्ट किया गया है। प्राचीन समयमें कवि साधारण कविता-शायरी करनेवालोंको नहीं कहते थे बल्कि उस प्रतिभाशाली विद्वान्को कहते थे जो नये-नये सन्दर्भ, नई-नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेमें समर्थ हो अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन हो, जो नाना वर्णनाओं-में निपुण हो, कृती हो, नाना अभ्यासोंमें कुशाग्रबुद्धि हो और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यव-हारोंमें कुशल) हो[2]। दूसरे पद्यमें सिद्धसेनको केशरी-सिंहकी उपमा देते हुए उसके साथ जो 'नय-केशरः' और 'विकल्प-नखराङ्कुरः' जैसे विशेषण लगाये गये हैं उनके द्वारा खास तौरपर सन्मतिसूत्र लक्षित किया गया है, जिसमें नयोंका ही मुख्यतः विवेचन है और अनेक विकल्पोंद्वारा प्रवादियोंके मन्तव्यों—मान्यसिद्धान्तोंका विदारण (निरसन) किया गया है। इसी सन्मतिसूत्रका जिनसेनने जयधवला'में और उनके गुरु वीरसेनने धवलामें उल्लेख किया है और उसके साथ घटित किये जानेवाले विरोधका परिहार करते हुए उसे अपना एक मान्य ग्रन्थ प्रकट किया है; जैसा कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके उन वाक्योंसे प्रकट है जो इस लेखके प्रारम्भिक फुटनोटमें उद्धृत किये जा चुके हैं।

---

१ ससिद्धसेनोऽभय-भीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शान्ति-सेनकौ ॥६६-२६॥

२ "कविर्नूतनसन्दर्भः"।

"प्रतिभाजीवनो नाना-वर्णना-निपुणः कविः । नानाऽभ्यास-कुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान् कविः ॥"
—अलङ्कारचिन्तामणि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभ मलधारिदेवने 'सिद्धान्तोद्भ्रीधवं सिद्धसेनं·····वन्दे' वाक्यके द्वारा सिद्धसेनकी वन्दना करते हुए उन्हें 'सिद्धान्तकी जानकारी एवं प्रतिपादनकौशल-रूप उच्चश्रीके स्वामी' सूचित किया है। प्रतापकीर्तिने आचार्यपूजाके प्रारम्भमें दी हुई गुर्वावलीमें "सिद्धान्तपाथोनिधिलब्धपारः श्रीसिद्धसेनोऽपि गणस्य सारः" इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनको 'सिद्धान्तसागरके पारगामी' और 'गणके सारभूत' बतलाया है। मुनिकनकामरने 'करकंडु-चरिउ'में, सिद्धसेनको समन्तभद्र तथा अकलङ्कदेवके समकक्ष 'श्रुतजलके समुद्र'[1] रूपमें उल्लेखित किया है। ये सब श्रद्धांजलि-मय दिगम्बर उल्लेख भी सन्मतिकार-सिद्धसेनसे सम्बन्ध रखते हैं, जो खास तौरपर सैद्धान्तिक थे और जिनके इस सैद्धान्तिकत्वका अच्छा आभास ग्रन्थके अन्तिम काण्डकी उन गाथाओं (६१ आदि)से भी मिलता है जो श्रुतधर-शब्दसन्तुष्टों, भक्तसिद्धान्तज्ञों और शिष्यगणपरिवृत-बहुश्रुतमन्योंकी आलोचनाको लिए हुए हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य सिद्धसेन प्रायः 'दिवाकर' विशेषण अथवा उपपद (उपनाम)के साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। उनके लिये इस विशेषण-पदके प्रयोगका उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमें सबसे पहले हरिभद्रसूरिके 'पञ्चवस्तु' ग्रन्थमें देखनेको मिलता है, जिसमें उन्हें दुःषमाकालरूप रात्रिके लिये दिवाकर (सूर्य)के समान होनेसे 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त हुए लिखा है[2]। इसके बादसे ही यह विशेषण उधर प्रचारमें आया जान पड़ता है; क्योंकि श्वेताम्बर चूर्णियों तथा मल्लवादीके नयचक्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें जहाँ सिद्धसेनका नामोल्लेख है वहाँ उनके साथमें 'दिवाकर' विशेषणका प्रयोग नहीं पाया जाता है[3]। हरिभद्रके बाद विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् अभयदेवसूरिने सन्मतिटीकाके प्रारम्भमें उसे उसी दुःषमाकालरात्रिके अन्धकारको दूर करनेवालेके अर्थमें अपनाया है[4]।

श्वेताम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियोंमें विक्रमकी छठी शताब्दी आदिकी जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं—जैसे कल्पसूत्रस्थविरावली(थेरावली), नन्दीसूत्रपट्टावली, दुःषमाकाल-श्रमणसंघ-स्तव—उनमें तो सिद्धसेनका कहीं कोई नामोल्लेख ही नहीं है। दुःषमाकालश्रमणसंघकी अवचूरिमें, जो विक्रमकी ९वीं शताब्दीसे बादकी रचना है, सिद्धसेनका नाम जरूर है किन्तु उन्हें 'दिवाकर' न लिखकर 'प्रभावक' लिखा है और साथ ही धर्माचार्यका शिष्य सूचित किया है—वृद्धवादीका नहीं:—

"अत्रान्तरे धर्माचार्य-शिष्य-श्रीसिद्धसेन-प्रभावकः ॥"

दूसरी विक्रमकी १५वीं शताब्दी आदिकी बनी हुई पट्टावलियोंमें भी कितनी ही पट्टावलियाँ ऐसी हैं जिनमें सिद्धसेनका नाम नहीं है—जैसे कि गुरुपर्वक्रमवर्णन, तपागच्छ-पट्टावलीसूत्र, महावीरपट्टपरम्परा, युगप्रधानसम्बन्ध (लोकप्रकाश) और सूरिपरम्परा। हाँ, तपागच्छपट्टावलीसूत्रकी वृत्तिमें, जो विक्रमकी १७वीं शताब्दी (सं० १६४८)की रचना है, सिद्ध-सेनका 'दिवाकर' विशेषणके साथ उल्लेख जरूर पाया जाता है। यह उल्लेख मूल पट्टावलीकी

१ तो सिद्धसेण सुसमंतभद्द अकलंकदेव सुअजलसमुद्द। क० २

२ आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेणं। दूसमणिसा-दिवागर-कप्पन्तणओ तदक्खेणं ॥१०४८

३ देखो, सन्मतिसूत्रकी गुजराती प्रस्तावना पृ० ३६, ३७ पर निशीथचूर्णि (उद्देश ४) और दशाचूर्णिके उल्लेख तथा पिछले समय-सम्बन्धी प्रकरणमें उद्धृत नयचक्रके उल्लेख।

४ "इति मन्वान आचार्यो दुषमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनाहार्दसन्तमसविध्वंसकत्वेनावाप्तयथार्था-भिधानः *सिद्धसेनदिवाकरः* तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्तमानः·····स्तवाभि-धायिकां गाथामाह।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए पट्टाचार्य इन्द्रदिन्नसूरिके अनन्तर और दिन्नसूरिके पूर्वकी व्याख्यामें स्थित है[1]। इन्द्रदिन्नसूरिको सुस्थित और सुप्रतिबुद्धके पट्टपर दसवाँ पट्टाचार्य बतलानेके बाद "अत्रान्तरे" शब्दोंके साथ कालकसूरि आर्यखपुट्टाचार्य और आर्यमंगुका नामोल्लेख समयनिर्देशके साथ किया गया है और फिर लिखा है:—

"वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र। तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्र-लिङ्गस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षशतचतुष्टये ४७० संजातं।"

इसमें वृद्धवादी और पादलिप्तके बाद सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख करते हुए उन्हें उज्जयिनीमें महाकालमन्दिरके रुद्रलिङ्गका कल्याणमन्दिरस्तोत्रके द्वारा स्फोटन करके श्रीपार्श्वनाथकेबिम्बको प्रकट करनेवाला और विक्रमादित्यराजाको प्रतिबोधित करनेवाला लिखा है। साथ ही विक्रमादित्यका राज्य वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ निर्दिष्ट किया है, और इस तरह सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी प्रथम शताब्दीका विद्वान् बतलाया है, जो कि उल्लेखित विक्रमादित्यको गलतरूपमें समझनेका परिणाम है। विक्रमादित्य नामके अनेक राजा हुए हैं। यह विक्रमादित्य वह विक्रमादित्य नहीं है जो प्रचलित संवत्का प्रवर्तक है, इस बात-को पं० सुखलालजी आदिने भी स्वीकार किया है। अस्तु; तपागच्छ-पट्टावलीकी यह वृत्ति जिन आधारोंपर निर्मित हुई है उनमें प्रधान पद तपागच्छकी मुनि सुन्दरसूरिकृत गुर्वावलीको दिया गया है, जिसका रचनाकाल विक्रम सवत् १४६६ है। परन्तु इस पट्टावलीमें भी सिद्धसेनका नामोल्लेख नहीं है। उक्त वृत्तिसे कोई १०० वर्ष बादके (वि० सं० १७३९ के बादके) बने हुए 'पट्टावलीसारोद्धार' ग्रन्थमें सिद्धसेनदिवाकरका उल्लेख प्रायः उन्हीं शब्दोंमें दिया है जो उक्त वृत्तिमें 'तथा' से 'संजातं' तक पाये जाते हैं[2]। और यह उल्लेख इन्द्रदिन्नसूरिके बाद "अत्रान्तरे" शब्दोंके साथ मात्र कालकसूरिके उल्लेखानन्तर किया गया है—आर्यखपुट, आर्यमंगु, वृद्धवादी और पादलिप्त नामके आचार्योंका कालकसूरिके अनन्तर और सिद्धसेनके पूर्वमें कोई उल्लेख ही नहीं किया है। वि० सं० १७८६ से भी बादकी बनी हुई 'श्रीगुरु-पट्टावली' में भी सिद्धसेनदिवाकरका नाम उज्जयिनीकी लिङ्गस्फोटन-सम्बन्धी घटनाके साथ उल्लेखित है[3]।

इस तरह श्वे० पट्टावलियों-गुर्वावलियोंमें सिद्धसेनका दिवाकररूपमें उल्लेख विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पाया जाता है, कतिपय प्रबन्धोंमें उनके इस विशेषणका प्रयोग सौ-दो सौ वर्ष और पहलेसे हुआ जान पड़ता। रही स्मरणोंकी बात, उनकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है—कुछ स्मरण दिवाकर-विशेषणको साथमें लिये हुए हैं और कुछ नहीं हैं। श्वेताम्बर साहित्यसे सिद्धसेनके श्रद्धाञ्जलिरूप जो भी स्मरण अभी तक प्रकाशमें आये हैं वे प्रायः इस प्रकार हैं:—

---

१ देखो, मुनि दर्शनविजय-द्वारा सम्पादित 'पट्टावलीसमुच्चय' प्रथम भाग।

२ "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरोपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्रलिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याण-मन्दिर स्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिक शतचतुष्टये ४७०ऽतिक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं सजातं ॥१०॥—पट्टावलीसमुच्चय पृ० १५०

३ "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरेणोज्जयिनीनगर्यां महाकाल प्रासादे लिंगस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतं।"—पट्टा० स० पृ० १६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) *उदितोऽर्हन्मत-व्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः ।*
चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराज-बुध-प्रभा ॥

यह विक्रमकी १३वीं शताब्दी (वि० सं० १२५२) के ग्रन्थ अममचरित्रका पद्य है। इसमें रत्नसूरि अलङ्कार-भाषाको अपनाते हुए कहते हैं कि 'अर्हन्मतरूपी आकाशमें सिद्धसेन-दिवाकरका उदय हुआ है, आश्चर्य है कि उसकी वचनरूप-किरणोंसे पृथ्वीपर कविराजकी—बृहस्पतिरूप 'शेष' कविकी—और बुधकी—बुधग्रहरूप विद्वद्वर्गकी—प्रभा लज्जित होगई—फीकी पड़ गई है।'

(ख) *तमः स्तोमं स हन्तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ।*
यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः ॥

यह विक्रमकी १४वीं शताब्दी (सं० १३२४) के ग्रन्थ समरादित्यका वाक्य है, जिसमें प्रद्युम्नसूरिने लिखा है कि 'वे श्रीसिद्धसेन दिवाकर (अज्ञान) अन्धकारके समूहको नाश करें जिनके उदय होनेपर वादीजन उल्लुओंकी तरह मूक होरहे थे—उन्हें कुछ बोल नहीं आता था।'

(ग) *श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धास्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ।*
येषां विमृश्य सततं विविधानिबन्धान् शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक् ॥

यह 'स्याद्वादरत्नाकर' का पद्य है। इसमें १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् वादिदेव-सूरि लिखते हैं कि 'श्रीसिद्धसेन और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध आचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न होवें, जिनके विविध निबन्धोंपर बार-बार विचार करके मेरे जैसा अल्प-प्रतिभाका धारक भी प्रस्तुत शास्त्रके रचनेमें प्रवृत्त होता है।'

(घ) *क्व सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।*
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥

यह विक्रमकी १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रकी एक द्वात्रिंशिका स्तुतिका पद्य है। इसमें हेमचन्द्रसूरि सिरूसेनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए लिखते हैं कि 'कहाँ तो सिद्धसेनकी महान् अर्थवाली गम्भीर स्तुतियाँ और कहाँ अशिक्षित मनुष्योंके आलाप-जैसी मेरी यह रचना ? फिर भी यूथके अधिपति गजराजके पथपर चलता हुआ उसका बच्चा (जिस प्रकार) स्खलितगति होता हुआ भी शोचनीय नहीं होता—उसी प्रकार मैं भी अपने यूथाधिपति आचार्यके पथका अनुसरण करता हुआ स्खलितगति होनेपर शोचनीय नहीं हूँ।'

यहाँ 'स्तुतयः' 'यूथाधिपतेः' और 'तस्य शिशुः' ये पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतयः' पदके द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थोंकेरूपमें उन द्वात्रिंशिकाओंकी सूचना कीगई है जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदोंके द्वारा सिद्धसेनको अपने सम्प्रदायका प्रमुख आचार्य और अपनेको उनका परम्परा शिष्य घोषित किया गया है। इस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यहाँ वे सिद्धसेन विवक्षित हैं जो कतिपय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हैं, न कि वे सिद्धसेन जो कि स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके अथवा खासकर सन्मतिसूत्रके रचयिता हैं। श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंमें भी, जिनका कितना ही परिचय ऊपर आचुका है, उन्हीं सिद्धसेनका उल्लेख मिलता है जो प्रायः द्वात्रिंशिकाओं अथवा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-स्तुतियोंके कर्तारूपमें विवक्षित हैं। सन्मतिसूत्रका उन प्रबन्धोंमें कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये जिस 'दिवाकर' विशेषणका हरिभद्रसूरिने स्पष्टरूपसे उल्लेख किया है वह बादको नाम-साम्यादिके कारण द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन एवं न्यायावतारके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्ता सिद्धसेनके साथ भी जुड़ गया मालूम होता है और संभवतः इस विशेषणके जुड़ जानेके कारण ही तीनों सिद्धसेन एक ही समझ लिये गये जान पड़ते हैं। अन्यथा, पं० सुखलालजी आदिके शब्दों (प्र० पृ० १०३) में 'जिन द्वात्रिंशिकाओंका स्थान सिद्धसेनके ग्रन्थोंमें चढ़ता हुआ है' उन्हींके द्वारा सिद्धसेनको प्रतिष्ठितयश बतलाना चाहिये था, परन्तु हरिभद्रसूरिने वैसा न करके सन्मतिके द्वारा सिद्धसेनका प्रतिष्ठितयश होना प्रतिपादित किया है और इससे यह साफ ध्वनि निकलती है कि सन्मतिके द्वारा प्रतिष्ठितयश होने वाले सिद्धसेन उन सिद्धसेनसे प्रायः भिन्न हैं जो द्वात्रिंशिकाओंको रचकर यशस्वी हुए हैं।

हरिभद्रसूरिके कथनानुसार जब सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त थे तब वे प्राचीनसाहित्यमें सिद्धसेन नामके विना 'दिवाकर' नामसे भी उल्लेखित होने चाहियें, उसी प्रकार जिस प्रकार कि समन्तभद्र 'स्वामी' नामसे उल्लेखित मिलते हैं[1]। खोज करनेपर श्वेताम्बरसाहित्यमें इसका एक उदाहरण 'अजरक्खनंदिसेणो' नामकी उस गाथामें मिलता है जिसे मुनि पुण्यविजयजीने अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामक लेखमें 'पावयणी धम्मकही' नामकी गाथाके साथ उद्धृत किया है और जिसमें आठ प्रभावक आचार्योंकी नामावली देते हुए 'दिवायरो' पदके द्वारा सिद्धसेनदिवाकरका नाम भी सूचित किया गया है। ये दोनों गाथाएँ पिछले समयादिसम्बन्धी प्रकरणके एक फुटनोटमें उक्त लेखकी चर्चा करते हुए उद्धृत की जा चुकी हैं। दिगम्बर साहित्यमें 'दिवाकर'का यतिरूपसे एक उल्लेख रविषेणाचार्यके पद्मचरितकी प्रशस्तिके निम्न वाक्यमें पाया जाता है, जिसमें उन्हें इन्द्र-गुरुका शिष्य, अर्हन्मुनिका गुरु और रविषेणके गुरु लक्ष्मणसेनका दादागुरू प्रकट किया है:—

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकर-यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।
तस्माल्लक्ष्मणसेन-सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥१२३–१६७॥

इस पद्यमें उल्लेखित दिवाकरयतिका सिद्धसेनदिवाकर होना दो कारणोंसे अधिक सम्भव जान पड़ता है—एक तो समयकी दृष्टिसे और दूसरे गुरु-नामकी दृष्टिसे। पद्मचरित वीरनिर्वाणसे १२०३ वर्ष ६ महीने बीतनेपर अर्थात् विक्रमसंवत् ७३४में बनकर समाप्त हुआ है[2], इससे रविषेणके पड़दादा (गुरुके दादा) गुरुका समय लगभग एक शताब्दी पूर्वका अर्थात् विक्रमकी ७वीं शताब्दीके द्वितीय चरण (६२६–६५०)के भीतर आता है जो सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये ऊपर निश्चित किया गया है। दिवाकरके गुरुका नाम यहाँ इन्द्र दिया है, जो इन्द्रसेन या इन्द्रदत्त आदि किसी नामका संक्षिप्तरूप अथवा एक देश मालूम होता है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें जहाँ सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख किया है वहाँ इन्द्रदिन्न नामक पट्टाचार्यके बाद 'अत्रान्तरे' जैसे शब्दोंके साथ उस नामकी वृद्धि की गई है। हो सकता है कि सिद्धसेनदिवाकरके गुरुका नाम इन्द्र-जैसा होने और सिद्धसेनका सम्बन्ध आद्य विक्रमादित्य अथवा संवत्प्रवर्त्तक विक्रमादित्यके साथ समझ लेनेकी भूलके कारण ही सिद्धसेनदिवाकरका इन्द्रदिन्न आचार्यकी पट्टबाह्य-शिष्यपरम्परामें स्थान दिया गया हो। यदि यह कल्पना ठीक है और उक्त पद्यमें 'दिवाकरयतिः' पद सिद्धसेनाचार्यका वाचक है तो कहना होगा कि सिद्धसेन-दिवाकर रविषेणाचार्यके पड़दादागुरु होनेसे दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्य थे। अन्यथा यह कहना अनुचित न होगा कि सिद्धसेन अपने जीवनमें 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त नहीं थे, उन्हें यह नाम अथवा विशेषण बादको हरिभद्रसूरि अथवा उनके निकटवर्ती किसी पूर्वाचार्यने

१ देखो, माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना पृ० ८।

२ द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽद्ध चतुष्कवर्षयुक्ते ।
जिनभास्कर-वर्द्धमान-सिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥१२३-१८१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलङ्कारकी भाषामें दिया है और इसीसे सिद्धसेनके लिये उसका स्वतन्त्र उल्लेख प्राचीन-साहित्यमें प्रायः देखनेको नहीं मिलता। श्वेताम्बरसाहित्यका जो एक उदाहरण ऊपर दिया गया है वह रत्नशेखरसूरिकृत गुरुगुणषट् त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकी स्वोपज्ञवृत्तिका एकवाक्य होनेके कारण ५०० वर्षसे अधिक पुराना मालूम नहीं होता और इसलिये वह सिद्धसेनकी दिवाकर-रूपमें बहुत बादकी प्रसिद्धिसे सम्बन्ध रखता है। आजकल तो सिद्धसेनके लिये 'दिवाकर' नामके प्रयोगकी बाढ़-सी आरही है परन्तु अतिप्राचीन कालमें वैसा कुछ भी मालूम नहीं होता।

यहाँपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि उक्त श्वेताम्बर प्रबन्धों तथा पट्टावलियोंमें सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीके महाकालमन्दिरमें लिङ्गस्फोटनादि-सम्बन्धिनी जिस घटनाका उल्लेख मिलता है उसका वह उल्लेख दिगम्बर सम्प्रदायमें भी पाया जाता है, जैसा कि सेनगणकी पट्टावलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकाल-संस्थापन-महाकाललिङ्गमहीधर-वाग्वज्रदण्डविष्ट्या-विष्कृत-श्रीपार्श्वतीर्थेश्वर-प्रतिद्वन्द्व-श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम् ॥१४॥"

ऐसी स्थितिमें द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनके विषयमें भी सहज अथवा निश्चित-रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे एकान्ततः श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे. सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी तो बात ही जुदी है। परन्तु सन्मतिकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजीने उन्हें एकान्ततः श्वेताम्बर सम्प्रदायका आचार्य प्रतिपादित किया है—लिखा है कि 'वे श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नहीं' (पृ० १०४)। परन्तु इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई समर्थ कारण नहीं बतलाया, कारणरूपमें केवल इतना ही निर्देश किया है कि 'महावीरके गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्रके शरणागमनकी बात सिद्धसेनने वर्णन की है जो दिगम्बरपरम्परामें मान्य नहीं किन्तु श्वेताम्बर आगमोंके द्वारा निर्विवादरूपसे मान्य है' और इसके लिये फुट-नोटमें ५वीं द्वात्रिंशिकाके छठे और दूसरी द्वात्रिंशिकाके तीसरे पद्यको देखनेकी प्रेरणा की है, जो निम्न प्रकार हैं:—

"अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्मरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते ।
चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं त्वमेव विद्यासु नयज्ञ कोऽन्यः ॥५-६॥"
"कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं दैत्याधिपः शतमुख-भ्रकुटीवितानः ।
त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार ॥२-३॥"

इनमेंसे प्रथम पद्यमें लिखा है कि 'हे यशोदाप्रिय! दूसरे अनेक जन्मोंमें भग्नमान हुआ कामदेव निर्लज्जतारूपी बाणको लिये हुए जो आपके सामने कुछ चला है उसके अर्थको आप ही नयके ज्ञाता जानते हैं, दूसरा और कौन जान सकता है? अर्थात् यशोदाके साथ आपके वैवाहिक सम्बन्ध अथवा रहस्यको समझनेके लिये हम असमर्थ हैं।' दूसरे पद्यमें देवासुर-संग्रामके रूपमें एक घटनाका उल्लेख है, 'जिसमें दैत्याधिप असुरेन्द्रने सुरवधुओंको भयभीतकर उनके रोंगटे खड़े कर दिये। इससे इन्द्रकी भ्रकुटी तन गई और उसने उसपर वज्र छोड़ा, असुरेन्द्रने भागकर वीरभगवानके चरणोंका आश्रय लिया जो कि शान्तिके धाम हैं और उनके प्रभावसे वह इन्द्रके वज्रको लज्जासे क्षीणद्युति करनेमें समर्थ हुआ।'

अलंकृत भाषामें लिखी गई इन दोनों पौराणिक घटनाओंका श्वेताम्बर सिद्धान्तोंके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है और इसलिये इनके इस रूपमें उल्लेख मात्रपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्योंके लेखक सिद्धसेन वास्तवमें यशोदाके साथ भ० महावीरका विवाह होना और असुरेन्द्र (चमरेन्द्र) का सेना सजाकर तथा अपना भयंकर रूप बनाकर युद्धके लिये स्वर्गमें जाना आदि मानते थे, और इसलिये श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य थे:

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि प्रथम तो श्वेताम्बरोंके आवश्यकनिर्युक्ति आदि कुछ प्राचीन आगमोंमें भी दिगम्बर आगमोंकी तरह भगवान् महावीरको कुमारश्रमणके रूपमें अविवाहित प्रतिपादित किया है[1] और असुरकुमार-जातिविशिष्ट-भवनवासी देवोंके अधिपति चमरेन्द्रका युद्धकी भावनाको लिये हुए सैन्य सजाकर स्वर्गमें जाना सैद्धान्तिक मान्यताओंके विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे, यह कथन परवक्तव्यके रूपमें भी हो सकता है और आगमसूत्रोंमें कितना ही कथन परवक्तव्यके रूपमें पाया जाता है इसकी स्पष्ट सूचना सिद्धसेनाचार्यने सन्मतिसूत्रमें की है और लिखा है कि ज्ञाता पुरुषको (युक्ति-प्रमाण-द्वारा) अर्थकी सङ्गतिके अनुसार ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए[2]।

यदि किसी तरहपर यह मान लिया जाय कि उक्त दोनों पद्योंमें जिन घटनाओंका उल्लेख है वे परवक्तव्य या अलङ्कारादिके रूपमें न होकर शुद्ध श्वेताम्बरीय मान्यताएँ हैं तो इससे केवल इतना ही फलित हो सकता है कि इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं (२, ५)के कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे श्वेताम्बर थे। इससे अधिक यह फलित नहीं हो सकता कि दूसरी द्वात्रिंशिकाओं तथा सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी श्वेताम्बर थे, जबतक कि प्रबल युक्तियोंके बलपर इन सब ग्रन्थोंका कर्त्ता एक ही सिद्धसेनको सिद्ध न कर दिया जाय; परन्तु वह सिद्ध नहीं है जैसा कि पिछले एक प्रकरणमें व्यक्त किया जा चुका है। और फिर इस फलित होनेमें भी एक बाधा और आती है और वह यह कि इन द्वात्रिंशिकाओंमें कोई कोई बात ऐसी भी पाई जाती है जो इनके शुद्ध श्वेताम्बर कृतियाँ होनेपर नहीं बनती, जिसका एक उदाहरण तो इन दोनोंमें उपयोगद्वयके युगपत्वादका प्रतिपादन है, जिसे पहले प्रदर्शित किया जा चुका है और जो दिगम्बर परम्पराका सर्वोपरि मान्य सिद्धान्त है तथा श्वेताम्बर आगमोंकी क्रमवाद-मान्यताके विरुद्ध जाता है। दूसरा उदाहरण पाँचवीं द्वात्रिंशिकाका निम्न वाक्य है:—

"नाथ त्वया देशितसत्पथस्थाः स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम् ।
नैवाऽन्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां प्राचीं यियासुर्विपरीतयायी ॥२५॥"

इसके पूर्वार्धमें बतलाया है कि 'हे नाथ!—वीरजिन! आपके बतलाये हुए सन्मार्गपर स्थित वे पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं—मोहनीयकर्मके सम्बन्धका अपने आत्मासे पूर्णतः विच्छेद कर देते हैं—जो 'स्त्रीचेतसः' होते हैं—स्त्रियों-जैसा चित्त (भाव) रखते हैं अर्थात् भावस्त्री होते हैं।' और इससे यह साफ ध्वनित है कि स्त्रियाँ मोहको पूर्णतः जीतनेमें समर्थ नहीं होतीं, तभी स्त्रीचित्तके लिये मोहको जीतनेकी बात गौरवको प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जब स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी तरह मोहपर पूर्ण विजय प्राप्त करके उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त कर सकती हैं तब एक श्वेताम्बर विद्वान्के इस कथनमें कोई महत्व मालूम नहीं होता कि 'स्त्रियों-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं,' वह निरर्थक जान पड़ता है। इस कथनका महत्व दिगम्बर विद्वानोंके मुखसे उच्चरित होनेमें ही है जो स्त्रीको मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं मानते फिर भी स्त्रीचित्तवाले भावस्त्री पुरुषोंके लिये मुक्तिका विधान करते हैं। अतः इस वाक्यके प्रणेता सिद्धसेन दिगम्बर होने चाहियें, न कि श्वेताम्बर, और यह समझना चाहिये कि उन्होंने इसी द्वात्रिंशिकाके छठे पद्यमें 'यशोदाप्रिय' पदके साथ जिस घटनाका उल्लेख किया है वह अलङ्कारकी प्रधानताको लिये हुए परवक्तव्यके रूपमें उसी प्रकारका कथन है

---

१ देखो, आवश्यकनिर्युक्तिगाथा २२१, २२२, २२६ तथा अनेकान्त वर्ष ४ कि० ११-१२ पृ० ५७६ पर प्रकाशित 'श्वेताम्बरोंमें भी भगवान् महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता' नामक लेख।

२ परवक्तव्यमाश्रित्य अनियमिता नेय नेय सर्वे सर्वे आदेशाहेया न नेमि वियंजणं जाणाओ करणइ ॥२-१८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार कि ईश्वरको कर्ता-हर्ता न माननेवाला एक जैनकवि ईश्वरको उलहना अथवा उसकी रचनामें दोष देता हुआ लिखता है—

"हे विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कस्तूरि बनाई !
दीन कुरङ्गनके तनमें, तृन दन्त धरैं करुना नहिं आई !!
क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं परको दुखदाई !
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दुहूँ सधते बिसरी चतुराई !!"

इस तरह सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनको श्वेताम्बर सिद्ध करनेके लिये जो द्वात्रिंशिकाओंके उक्त दो पद्य उपस्थित किये गये हैं उनसे सन्मतिकार सिद्धसेनका श्वेताम्बर सिद्ध होना तो दूर रहा, उन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनका भी श्वेताम्बर होना प्रमाणित नहीं होता जिनके उक्त दोनों पद्य अङ्गरूप हैं। श्वेताम्बरत्वकी सिद्धिके लिये दूसरा और कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया और इससे यह भी साफ मालूम होता है कि स्वयं सन्मति-सूत्रमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसे दिगम्बरकृति न कहकर श्वेताम्बरकृति कहा जा सके, अन्यथा उसे जरूर उपस्थित किया जाता। सन्मतिमें ज्ञान-दर्शनोपयोगके अभेदवादकी जो खास बात है वह दिगम्बर मान्यताके अधिक निकट है, दिगम्बरोंके युगपद्वादपरसे ही फलित होती है—न कि श्वेताम्बरोंके क्रमवादपरसे, जिसके खण्डनमें युगपद्वादकी दलीलोंको सन्मतिमें अपनाया गया है। और श्रद्धात्मक दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके अभेदवादकी जो बात सन्मति द्वितीयकाण्डकी गाथा ३२-३३में कही गई है उसके बीज श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके समयसार ग्रन्थमें पाये जाते हैं। इन बीजोंकी बातको पं० सुखलालजी आदिने भी सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६२)में स्वीकार किया है—लिखा है कि "सन्मतिना (कां० २ गाथा ३२) श्रद्धा-दर्शन अने ज्ञानना ऐक्यवादनुं बीज कुंदकुंदना समयसार गा० १-१३ मां[1] स्पष्ट छे।" इसके सिवाय, समयसारकी 'जो पस्सदि अप्पाणं' नामकी १४वीं गाथामें शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए जब यह कहा गया है कि वह नय आत्माको अविशेषरूपसे देखता है तब उसमें ज्ञान-दर्शनोपयोगकी भेद-कल्पना भी नहीं बनती और इस दृष्टिसे उपयोग-द्वयकी अभेद-वादताके बीज भी समयसारमें सन्निहित हैं ऐसा कहना चाहिये।

हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि पं० सुखलालजीने 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेखमें[2] देवनन्दी पूज्यपादको "दिगम्बर परम्पराका *पक्षपाती सुविद्वान्*" बतलाते हुए सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनदिवाकरको *"श्वेताम्बरपरम्पराका समर्थक आचार्य"* लिखा है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि वे किस रूपमें श्वेताम्बरपरम्पराके समर्थक हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरमें भेदकी रेखा खींचनेवाली मुख्यतः तीन बातें प्रसिद्ध हैं—१ स्त्रीमुक्ति, २ केवलिभुक्ति (कवलाहार) और ३ सवस्त्रमुक्ति, जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य करता और दिगम्बर सम्प्रदाय अमान्य ठहराता है। इन तीनोंमेंसे एकका भी प्रतिपादन सिद्धसेनने अपने किसी ग्रन्थमें नहीं किया है और न इनके अलावा अलंकृत अथवा शृङ्गारित जिनप्रतिमाओंके पूजनादिका ही कोई विधान किया है, जिसके मण्डनादिककी भी सन्मतिके टीकाकार अभयदेवसूरिको जरूरत पड़ी है और उन्होंने मूलमें वैसा कोई खास प्रसङ्ग न होते

१ यहाँ जिस गाथाकी सूचना की गई है वह 'दंसणणाणचरित्ताणि' नामकी १६वीं गाथा है। इसके अतिरिक्त 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं' (७), 'सम्मद्दसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं' (१४४), और 'णाणं सम्मादिट्ठं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं' (४०४) नामकी गाथाओंमें भी अभेदवादके बीज संनिहित हैं।

२ भारतीयविद्या, तृतीय भाग पृ० १५४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए भी उसे यों सी टीकामें लाकर घुसेड़ा है[1]। ऐसी स्थितिमें सिद्धसेनदिवाकरको दिगम्बर-परम्परासे भिन्न एकमात्र श्वेताम्बरपरम्पराका समर्थक आचार्य कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। सिद्धसेनने तो श्वेताम्बरपरम्पराकी किसी विशिष्ट बातका कोई समर्थन न करके उल्टा उसके उपयोग-द्वय-विषयक क्रमवादकी मान्यताका सन्मतिमें जोरोंके साथ खण्डन किया है और इसके लिये उन्हें अनेक साम्प्रदायिक कट्टरताके शिकार श्वेताम्बर आचार्योंका कोपभाजन एवं तिरस्कारका पात्र तक बनना पड़ा है। मुनि जिनविजयजीने 'सिद्धसेनदिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' नामक लेखमें[2] उनके इस विचारभेदका उल्लेख

"सिद्धसेनजीके इस विचारभेदके कारण उस समयके सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमप्रवण आचार्यगण उनको 'तर्कम्मन्य' जैसे तिरस्कार-व्यञ्जक विशेषणोंसे अलंकृत कर उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाव प्रकट किया करते थे।"

"इस (विशेषावश्यक) भाष्यमें क्षमाश्रमण (जिनभद्र)जीने दिवाकरजीके उक्त विचार-भेदका खूब ही खण्डन किया है और उनको 'आगम-विरुद्ध-भाषी' बतलाकर उनके सिद्धान्तको अमान्य बतलाया है॥'

"सिद्धसेनगणीने 'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः' (१-३१) इस सूत्रकी व्याख्यामें दिवाकरजीके विचारभेदके ऊपर अपने ठीक वाग्बाण चलाये हैं। गणीजीके कुछ वाक्य देखिये—'यद्यपि केचित्पण्डितंमन्याः सूत्रान्यथाकारमर्थमाचक्षते तर्कबलानुविद्ध-बुद्धयो वारंवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति।"

दिगम्बर साहित्यमें ऐसा एक भी उल्लेख नहीं जिसमें सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनके प्रति अनादर अथवा तिरस्कारका भाव व्यक्त किया गया हो—सर्वत्र उन्हें बड़े ही गौरवके साथ स्मरण किया गया है, जैसा कि ऊपर उद्धृत हरिवंशपुराणादिके कुछ वाक्योंसे प्रकट है। अकलङ्कदेवने उनके अभेदवादके प्रति अपना मतभेद व्यक्त करते हुए किसी भी कटु शब्दका प्रयोग नहीं किया, बल्कि बड़े ही आदरके साथ लिखा है कि "यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते"—अर्थात् केवली (सर्वज्ञ) जिस प्रकार असद्-भूत और अनुपदिष्टको जानता है उसी प्रकार उनको देखता भी है इसके माननेमें आपकी क्या हानि होती है?—वास्तविक बात तो प्रायः ज्योंकी त्यों एक ही रहती है। अकलङ्कदेवके प्रधान टीकाकार आचार्य श्रीअनन्तवीर्यजीने सिद्धिविनिश्चयकी टीकामें 'असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः। द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने।' इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए सिद्धसेनको महान् आदर-सूचक 'भगवान्' शब्दके साथ उल्लेखित किया है और जब उनके किसी स्वयूथ्यने—स्वसम्प्रदायके विद्वान्ने—यह आपत्ति की कि 'सिद्धसेनने एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतुको कहीं भी असिद्ध नहीं बतलाया है अतः एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतु सिद्धसेन-की दृष्टिमें असिद्ध है' यह वचन सूक्त न होकर अयुक्त है, तब उन्होंने यह कहते हुए कि 'क्या उसने कभी यह वाक्य नहीं सुना है' सन्मतिसूत्रकी 'जे संतवायदोसे' इत्यादि कारिका (३-५०) को उद्धृत किया है और उसके द्वारा एकान्तसाधनमें प्रयुक्त हेतुको सिद्धसेनकी दृष्टिमें 'असिद्ध' प्रतिपादन करना सन्निहित बतलाकर उसका समाधान किया है। यथाः—

१ देखो, सन्मति-तृतीयकाण्डगत गाथा ६५की टीका (पृ० ७५४), जिसमें "भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणं" इत्यादि रूपसे मण्डन किया गया है।

२ जैनसाहित्यसंशोधक, भाग १ अङ्क १ पृ० १०, ११।

करते हुए लिखा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"असिद्ध इत्यादि, स्वलक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धावङ्गीक्रियमानायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतोऽसिद्धः। कथमिति चेदुच्यते.....। ततः सूक्तमेकान्तसाधने हेतुरसिद्धः सिद्धसेनस्येति। कश्चित्स्वयूथ्योऽत्राह—सिद्धसेनेन क्वचित्तस्याऽसिद्धस्याऽवचनादयुक्तमेतदिति। तेन कदाचिदेतत् श्रुतं—'जे संतवायदोसे सक्कोल्लूया भणंति संखाणं। संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा' ॥"

इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् स्वर्गीय श्रीमोहनलाल दलीचन्द देशाई बीए. ए., एल-एल. बी. एडवोकेट हाईकोर्ट बम्बईने, अपने 'जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थ (पृ. ११६)में लिखा है कि "सिद्धसेनसूरि प्रत्येनो आदर दिगम्बरो विद्वानोमां रहेलो देखाय छे" अर्थात् (सन्मतिकार) सिद्धसेनाचार्यके प्रति आदर दिगम्बर विद्वानोंमें रहा दिखाई पड़ता है—श्वेताम्बरोंमें नहीं। साथ ही हरिवंशपुराण, राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय-टीका, रत्नमाला, पार्श्वनाथचरित और एकान्तखण्डन-जैसे दिगम्बर ग्रन्थों तथा उनके रचयिता जिनसेन, अकलङ्क, अनन्तवीर्य, शिवकोटि, वादिराज और लक्ष्मीभद्र(धर) जैसे दिगम्बर विद्वानोंका नामोल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि 'इन दिगम्बर विद्वानोंने सिद्धसेनसूरि-सम्बन्धी और उनके सन्मतितर्क-सम्बन्धी उल्लेख भक्तिभावसे किये हैं, और उन उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि दिगम्बर ग्रन्थकारोंमें घना समय तक सिद्धसेनके (उक्त) ग्रन्थका प्रचार था और वह प्रचार इतना अधिक था कि उसपर उन्होंने टीका भी रची है।

इस सारी परिस्थितिपरसे यह साफ समझा जाता और अनुभवमें आता है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन एक महान् दिगम्बराचार्य थे, और इसलिये उन्हें श्वेताम्बर-परम्पराका अथवा श्वेताम्बरत्वका समर्थक आचार्य बतलाना कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। वे अपने प्रवचन-प्रभाव आदिके कारण श्वेताम्बरसम्प्रदायमें भी उसी प्रकारसे अपनाये गये हैं जिस प्रकार कि स्वामी समन्तभद्र, जिन्हें श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें पट्टाचार्य तकका पद प्रदान किया गया है और जिन्हें पं० सुखलाल, पं० बेचरदास और मुनि जिनविजय आदि बड़े-बड़े श्वेताम्बर विद्वान् भी अब श्वेताम्बर न मानकर दिगम्बर मानने लगे हैं।

कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन इन सन्मतिकार सिद्धसेनसे भिन्न तथा पूर्ववर्ती दूसरे ही सिद्धसेन हैं, जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, और सम्भवतः वे ही उज्जयिनीके महाकालमन्दिरवाली घटनाके नायक जान पड़ते हैं। हो सकता है कि वे शुरूसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ही दीक्षित हुए हों, परन्तु श्वेताम्बर आगमोंको संस्कृतमें कर देनेका विचारमात्र प्रकट करनेपर जब उन्हें बारह वर्षके लिये संघबाह्य करने-जैसा कठोर दण्ड दिया गया हो तब वे सविशेषरूपसे दिगम्बर साधुओंके सम्पर्कमें आए हों, उनके प्रभावसे प्रभावित तथा उनके संस्कारों एवं विचारोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुए हों—खासकर समन्तभद्रस्वामीके जीवनवृत्तान्तों और उनके साहित्यका उनपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा हो और इसी लिये वे उन्हीं-जैसे स्तुत्यादिक कार्योंके करनेमें दत्तचित्त हुए हों। उन्हींके सम्पर्क एवं संस्कारोंमें रहते हुए ही सिद्धसेनसे उज्जयिनीकी वह महाकालमन्दिरवाली घटना बन पड़ी हो, जिससे उनका प्रभाव चारों ओर फैल गया हो और उन्हें भारी राजाश्रय प्राप्त हुआ हो। यह सब देखकर ही श्वेताम्बरसंघको अपनी भूल मालूम पड़ी हो, उसने प्रायश्चित्तकी शेष अवधिको रद्द कर दिया हो और सिद्धसेनको अपना ही साधु तथा प्रभावक आचार्य घोषित किया हो। अन्यथा, द्वात्रिंशिकाओंपरसे सिद्धसेन गम्भीर विचारक एवं कठोर समालोचक होनेके साथ साथ जिस उदार स्वतन्त्र और निर्भय-प्रकृतिके समर्थ विद्वान् जान पड़ते हैं उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्होंने ऐसे अनुचित एवं अविवेकपूर्ण दण्डको यों ही चुपके-से गर्दन झुका कर मान लिया हो, उसका कोई प्रतिरोध न किया हो अथवा अपने लिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई दूसरा मार्ग न चुना हो। सम्भवतः अपने साथ किये गये ऐसे किसी दुर्व्यवहारके कारण ही उन्होंने पुराणपन्थियों अथवा पुरातनप्रेमी एकान्तियोंकी (द्वा० ६में) कड़ी आलोचनाएँ की हैं।

यह भी हो सकता है कि एक सम्प्रदायने दूसरे सम्प्रद्रायकी इस उज्जयिनीवाली घटनाको अपने सिद्धसेनके लिये अपनाया हो अथवा यह घटना मूलतः काँची या काशीमें घटित होनेवाली समन्तभद्रकी घटनाकी ही एक प्रकारसे कापी हो और इसके द्वारा सिद्धसेनको भी उसप्रकारका प्रभावक ख्यापित करना अभीष्ट रहा हो। कुछ भी हो, उक्त द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन अपने उदार विचार एवं प्रभावादिके कारण दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माने जाते हैं—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायमें पहले अथवा पीछे दीक्षित क्यों न हुए हों।

परन्तु न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनकी दिगम्बर सम्प्रदायमें वैसी कोई खास मान्यता मालूम नहीं होती और न उस ग्रन्थपर दिगम्बरोंकी किसी खास टीका-टिप्पणका ही पता चलता है, इसीसे वे प्रायः श्वेताम्बर जान पड़ते हैं। श्वेताम्बरोंके अनेक टीका-टिप्पण भी न्यायावतारपर उपलब्ध होते हैं—उसके 'प्रमाणं स्वपराभासि' इत्यादि प्रथम श्लोकको लेकर तो विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् जिनेश्वरसूरिने उसपर 'प्रमालक्ष्म' नामका एक सटीक वार्तिक ही रच डाला है, जिसके अन्तमें उसके रचनेमें प्रवृत्त होनेका कारण उन दुर्जनवाक्योंको बतलाया है जिनमें यह कहा गया है कि इन 'श्वेताम्बरोंके शब्दलक्षण और प्रमाणलक्षण-विषयक कोई ग्रन्थ अपने नहीं हैं, ये परलक्षणोपजीवी हैं—बौद्ध तथा दिगम्बरादि ग्रन्थोंसे अपना निर्वाह करनेवाले हैं—अतः ये आदिसे नहीं—किसी निमित्तसे नये ही पैदा हुए अर्वाचीन हैं।' साथ ही यह भी बतलाया है कि 'हरिभद्र, मल्लवादी और अभयदेवसूरि-जैसे महान् आचार्योंके द्वारा इन विषयोंकी उपेक्षा किये जानेपर भी हमने उक्त कारणसे यह 'प्रमालक्ष्म' नामका ग्रन्थ वार्तिकरूपमें अपने पूर्वाचार्यका गौरव प्रदर्शित करनेके लिये (टीका—"पूर्वाचार्यगौरव-दर्शनार्थं") रचा है और (हमारे भाई) बुद्धिसागराचार्यने संस्कृत-प्राकृत शब्दोंकी सिद्धिके लिये पद्योंमें व्याकरण ग्रन्थकी रचना की है[1]।'

इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन श्वेताम्बर जाने जाते हैं। द्वात्रिंशिकाओंमेंसे कुछके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और कुछके कर्ता श्वेताम्बर जान पड़ते हैं और वे उक्त दोनों सिद्धसेनोंसे भिन्न पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अथवा उनसे अभिन्न भी हो सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उज्जयिनीकी उस घटनाके साथ जिन सिद्धसेनका सम्बन्ध बतलाया जाता है उन्होंने सबसे पहले कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है, उनके बाद दूसरे सिद्धसेनोंने भी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ रची हैं और वे सब रचयिताओंके नाम-साम्यके कारण परस्परमें मिलजुल गई हैं, अतः उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंमें यह निश्चय करना कि कौन-सी द्वात्रिंशिका किस सिद्धसेनकी कृति है विशेष अनुसन्धानसे सम्बन्ध रखता है। साधारणतौरपर उपयोग-द्वयके युगपद्वादादिकी दृष्टिसे, जिसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओंको दिगम्बर सिद्धसेनकी, १९वीं तथा २१वीं द्वात्रिंशिकाओंको श्वेताम्बर सिद्धसेनकी और शेष द्वात्रिंशिकाओंको दोनोंमेंसे किसी भी सम्प्रदायके सिद्धसेनकी अथवा दोनों ही सम्प्रदायोंके सिद्धसेनोंकी अलग अलग कृति कहा जा सकता है। यही इन विभिन्न सिद्धसेनोंके सम्प्रदाय-विषयक विवेचनका सार है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ३१-१२-१९४८

---

१ देखो, वार्तिक नं० ४०१से ४०५ और उनकी टीका अथवा जैनहितैषी भाग १३ अङ्क ९-१०में प्रकाशित मुनि जिनविजयजीका 'प्रमालक्ष्म' नामक लेख।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

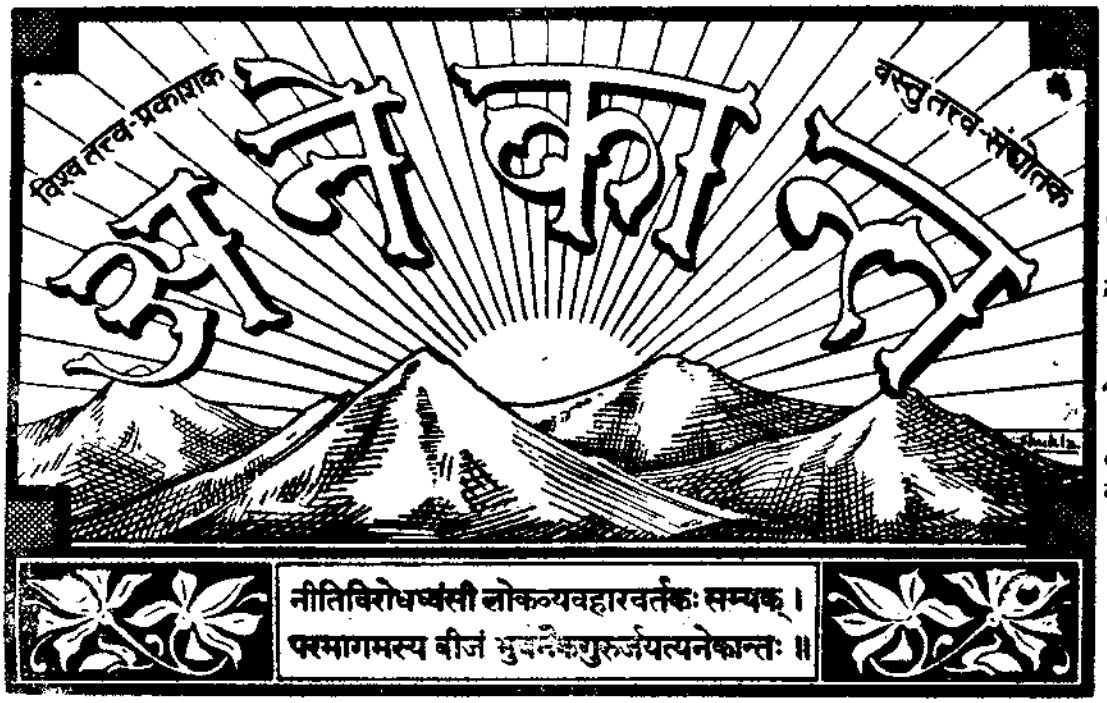

मूल्य वार्षिक ५)
१२वीं किरणके मूल्यमें शामिल

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	दिसम्बर
किरण १२	मार्गशीर्षशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७५, विक्रम-संवत् २००५	१९४८

धर्म और वर्तमान परिस्थितियाँ

(ले०—नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

मानवता धर्म है और मानवजीवनको विकासकी ओर ले जानेवाले नियम धर्मके अङ्ग हैं। विचारके लिये मानवजीवनको प्रधान तीन क्षेत्रोंमें विभक्त किया जा सकता है—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। नित्य, चैतन्य और अखण्ड आत्माके विकास एवं उसके मूल स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिये उपर्युक्त तीनों शक्तियाँ साधन हैं। इनके विकास द्वारा ही चरम लक्ष्य आत्माकी अनुभूति होती है अथवा जो आत्माका अस्तित्व नहीं भी मानते हैं, उनके लिये भी उक्त तीनों क्षेत्रोंके विकास की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि मानवकी मानवता इन तीनोंके विकासका ही नाम है। अतएव धर्मका लक्ष्य भी इन तीनों शक्तियोंके विकसित करनेका है। जब तक इन तीनोंमेंसे कोई भी शक्ति अविकसित रहती है, मानव अपूर्ण ही रहता है। स्पष्ट करनेके लिये यों कहा जा सकता है कि शरीरके विकासके अभाव[1]में मानसिक शक्तियोंका विकास नहीं और मानसिक शक्तियोंके कमजोर होनेपर आध्यात्मिक शक्तिका विकास सम्भव नहीं, अतः आजके वैज्ञानिकोंके यहाँ भी क्रिया, विचार और भावना इन तीनोंकी अविकसित अवस्थामें व्यक्तिगत जीवन निष्क्रिय जीवन होगा। व्यक्तिकी निष्क्रियता अपने तक ही सीमित नहीं रहेगी, प्रत्युत उसका व्यापी प्रभाव समाज-पर पड़ेगा; जिसका फल मानव-समाजके विनाश या उसकी असभ्यतामें प्रकट होगा।

१ शरीर की उस शक्तिका नाम शारीरिक विकास है, जहाँ भोजनके अभावमें उसकी स्थिति रह सके। मानसिक शक्तिका अर्थ ज्ञानका चरम विकास है तथा आध्यात्मिक शक्तिका अर्थ आत्मस्वरूपके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शारीरिक शक्तिकी परिभाषा और उसके विकासके धार्मिक नियम

शारीरिक शक्तिमें मानवका स्थूल शरीर, उसकी इन्द्रियाँ—हाथ, पैर, नाक, कान प्रभृति शामिल हैं। इस शक्तिको विकसित करनेका काम भी धर्मका है, अर्थात् समाजके वे नियम जिनके द्वारा इस शक्तिका पूर्ण विकास हो सके, इसके विकासमें किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न न हो। मनुष्यको प्रारम्भसे ही शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये भोजन, वस्त्र की आवश्यकता होती है, उसे रहनेके लिये स्थान और आने-जानेके लिये सवारी भी चाहिये। इन आवश्यकताकी वस्तुओंके मिलनेसे उसका शरीर पुष्ट होता है, इन्द्रियोंमें पुष्टि आती है तथा समस्त शरीरके अङ्गोपाँगरूप शारीरिक शक्तिका विकास होता है। समाजमें आवश्यकता की वस्तुएँ थोड़ी हैं और उनके लेने वाले अत्यधिक हैं। इसलिये समाजके सभी सदस्योंको वस्तुओंके वितरणके लिये राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नियमोंका निर्माण किया जाता है; जो कि शारीरिक शक्तिके विकसित करनेके लिये धार्मिक नियम हैं। किन्तु इतना स्मरण रखना होगा कि जब इस शक्तिका चरम विकास हो जाता है, उस समय ये क्षुद्र नियम लागू नहीं होते हैं। इसीलिये इन नियमोंको स्थिर नहीं माना जा सकता, किन्तु एक समयमें निर्मित नियम दूसरे समयके लिये अनुपयोगी भी साबित हो सकते हैं। अतएव आजकी परिस्थितियों के प्रकाशमें शक्तित्रयके विकासको देखना आवश्यक है।

शारीरिक शक्तिके साधन अर्थकी व्यापकता और सिक्केका प्रचलन

शरीरके विकासके लिये अर्थकी कितनी आवश्यकता है, यह किसीसे छुपा नहीं। भोजन, वस्त्र, सवारी प्रभृति समस्त पदार्थ अर्थके अन्तर्गत हैं। केवल रुपयेका नाम अर्थ नहीं है। आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व एक ऐसा भी युग था, जिसमें सिक्का नहीं था, केवल वस्तुओं के परस्पर विनिमयसे कार्य चलते थे। लेकिन जब इस विनिमयकी क्रियासे मानवकी शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमें बाधा आने लगी तो अर्थके प्रतीक सिक्केका जन्म हुआ। स्पष्ट करनेके लिये यों कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमेंसे एकके पास गेहूँ, चना आदि अन्न हैं, दूसरा एक ऐसा आदमी है जिसके पास मवेशी हैं, तीसरा एक ऐसा व्यक्ति है जिसके पास वस्त्र हैं। पहले व्यक्तिको फलों की आवश्यकता है, दूसरेको अनाज की आवश्यकता और तीसरेको तरकारियों की। ये तीनों ही व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुकी प्राप्तिके लिये छटपटा रहे हैं। पहला अनाज वाला व्यक्ति फलोंकी दुकानपर गया और फल वालेसे अनाजके बदलेमें फल देनेको कहा; किन्तु फल वालेको अनाज की आवश्यकता नहीं। अतः अनाजसे फलोंका विनिमय नहीं करना चाहता अथवा अधिक अनाजके बदलेमें कम फल देना चाहता है, इससे पहले व्यक्तिके सामने विकट समस्या है।

दूसरे व्यक्तिको अनाज चाहिये, अतः वह मवेशी लेकर गया और बदलेमें अनाज मँगाने लगा, किन्तु पहले व्यक्तिको मवेशी की जरूरत नहीं, उसे तो फल चाहियें। इसलिये उसने मवेशीके बदलेमें अनाज देनेसे इन्कार कर दिया अथवा एक मवेशी लेकर थोड़ासा अनाज देना चाहता है, जिससे दूसरा व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति किये बिना ही लौट आता है। यही अवस्था तीसरे की है, उसे भी अपनी आवश्यकता की पूर्तिमें बाधा है। यदि ये व्यक्ति और भी कई प्रकारके पदार्थ—नमक, मिर्च, मसाला प्रभृति खरीदना चाहें तो इन्हें ये पदार्थ भी बड़ी कठिनाईसे मिलेंगे। समाजकी इस कठिन समस्याको सुलझानेके लिये धार्मिक नियम सिक्केके प्रचलनके रूपमें आविर्भूत हुआ। समाजकी छीना-झपटीकी समस्या को अर्थके प्रतिनिधि सिक्केने हरकर मानवको उन्नत बनानेमें बड़ा योग दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिक्केका प्रचलन एक धार्मिक नियम है

सिक्केका प्रचलन एक धार्मिक नियम है इस बातकी पुष्टि सिक्केके इतिहाससे स्वयं होजाती है। सिक्का किसी व्यापारी द्वारा नहीं चलाया गया है, बल्कि इसे किसी राजा ने चलाया है। इसका रहस्य यह है कि सिक्के की धाक और साख तभी जम सकती थी, जब समाजको इस बातका विश्वास हो जाता है कि इसकी धातु निर्दोष और तोल सही है यदि व्यापारी वर्ग इसका प्रचलन करता तो वह अपनी चालाकीसे उक्त दोनों बातोंका निर्वाह यथार्थरूपमें नहीं कर सकता, जिसका परिणाम सिक्के राज्यमें भी अराजकता होती और थोड़े दिनोंमें सिक्का भी निकम्मी चीज बन जाता। अतः धोखेबाजीको दूर करनेके लिये तथा समाजमें अमन-चैन स्थापित करनेके लिये सिक्केके बीचमें राजाको पड़ना पड़ा। इस प्रकार इस धार्मिक नियमने व्यक्ति और समाजकी अनेक समस्याओंकी जटिलताको दूर कर दिया।

शारीरिक शक्ति विकासक अर्थसम्बन्धी धार्मिक नियमोंका क्रमिक विकास

यद्यपि मुद्राके जन्म होजानेसे मानवकी शारीरिक शक्तिके विकासमें सुविधा प्राप्त हुई है। पर कुछ चालाक और धूर्त व्यक्ति अपने बौद्धिक कौशलसे अन्य व्यक्तियोंके श्रमका अनुचित लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं, जिससे मानव-समाजमें दो वर्ग स्थापित हो जाते हैं—एक शोषित और दूसरा शोषक। प्रागैतिहासिक कालसे ही मानव अपनी शारीरिक शक्तिके विकासके लिये धार्मिक नियमोंका प्रचलन करता चला आरहा है। परिस्थितियोंके अनुसार सदा इन नियमोंमें संशोधन होता रहा है। उदयकाल और आदिकालमें जब लोग वैयक्तिक सम्पत्ति रखने लगे थे, अर्थार्जनके असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यके नियम प्रचलित किये गये थे, जिन नियमोंमें आबद्ध होकर मानव शारीरिक शक्तिको विकसित करनेके लिये अर्थ प्राप्त करता था।

जब-जब आर्थिक व्यवस्थामें विषमता या अन्य किन्हीं भी कारणोंसे बाधा उत्पन्न हुई धर्मने उसे दूर किया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और परिग्रह-परिमाण ऐसे नियम हैं, जो आर्थिक समस्याका संतुलन समाजमें रखते हैं। अर्थ-सम्बन्धी इन धार्मिक नियमोंका पालन राजनीति और समाज इन दोनोंके द्वारा ही हो सकता है। राजनीति सदा आर्थिक नियमोंके आधारपर चलती है तथा समाजकी भित्ति इसीपर अवलम्बित है। वर्तमान कालीन आर्थिक नियमोंके विचारविनिमयसे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

पूंजीवादी विचारधाराका धार्मिक दृष्टिकोण

सम्भवतः कुछ लोग पूँजीवादी विचारधाराका नाम सुनकर चौंक उठेंगे और प्रश्न करेंगे कि धर्मके साथ इसका सम्बन्ध कैसा ? यह तो एक सामाजिक या राजनैतिक प्रश्न है, धर्मको इसके बीचमें डालना उचित नहीं। किन्तु विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि धर्मका सम्बन्ध आजकी या प्राचीनकालकी सभी आर्थिक विचारधाराओंसे है। यदि यह कहा जाय कि किसी विशेष परिस्थतिमें कोई आर्थिक विचारधारा धार्मिक नियम है, तो अनुचित न होगा; क्योंकि वह अपने समयमें समाजमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करती है।

पूंजीवादकी परिभाषा

समाजके चन्द व्यक्ति अपने बुद्धिकौशल द्वारा उत्पत्तिके साधनोंपर एकाधिकार कर उत्पादन सामग्रीको क्रियात्मकरूप देनेके लिये मजदूरोंको नौकर रख लेते हैं। मजदूर अपने श्रमसे अर्थार्जन करते हैं, जिसके बदलेमें पूंजीपति उन्हें वेतन देते हैं, परन्तु यह वेतनश्रमकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा कम होता है। जितना मजदूरोंको देनेके बाद बच जाता है, वह पूँजपतियोंके कोषमें सञ्चित होता है। इस प्रकार समाजमें व्यवसायिक क्रान्तिके फलस्वरूप पूँजी कुछ ही स्थानोंमें सञ्चित हो जाती है, यही पूँजीवाद कहलाता है। पूँजी उत्पादनके प्रधान चार साधन हैं—भूमि, मजदूरी, पूँजी और संगठन। इन चारोंकी आय लगान या किराया, पारिश्रमिक—वेतन, ब्याज और लाभ कहलाती है॥

पूंजीवाद और धर्म

एक युग ऐसा था, जब समाजकी सुव्यवस्थाके लिये पूँजीवादकी आवश्यकता थी। स्वभावतः देखा जाता है कि जब पृथ्वीपर जनसंख्याकी वृद्धि हो जाती है, तब व्यक्तित्व विकासकी भावनाएँ प्रबल होती हैं तथा समाजका प्रत्येक सदस्य अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थोंके लिये भौतिक उन्नतिमें स्पर्धा करता है, यही एक-दूसरेकी बढ़ा-चढ़ीकी भावना पूँजीवाद को जन्म देती है। प्राचीनयुगमें जब जनसंख्या सीमित थी, उस समय समाजकी शक्तिको बढ़ानेके लिये पूँजीवादको धार्मिकरूप दिया गया था। वस्तुतः समाजकी शक्तिके लिये कुछ ही स्थानोंमें पूँजीका सञ्चित करना आवश्यक था। लेकिन उस युगमें संचित करनेवाला व्यक्ति अकेला ही उस सम्पत्तिके उपभोग करनेका अधिकारी नहीं था, वह रक्षकके रूपमें रहता था, तथा आवश्यकता पड़नेपर उसे अपनी सम्पत्ति समाजको देनी पड़ती थी। उस समय समाज संचालनके लिये एक ऐसी व्यवस्थाकी आवश्यकता थी, जिसके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर पर्याप्त धन लिया जा सके।

पूंजीवादकी आलोचना

संसारकी सभी वस्तुएँ गुण-दोषात्मक हुआ करती हैं। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं मिलेगी, जिसमें केवल गुण या दोष ही हों। पूँजीवाद जहाँ धार्मिक दृष्टिसे एक युगमें समाज-व्यवस्थामें सहायक था, वहाँ आज समाजके लिये हानिकारक है। क्योंकि जब राग-द्वेष युक्त अपरिमित भौतिक उन्नतिसे जगतमें विषमता अत्यधिक बढ़ जाती है, उस समय विषमता जन्य दुखोंसे छुटकारा पानेके लिये प्रत्येक मानव तिलमिलाने लगता है, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अन्य सामाजिक व्यवस्था जन्म ग्रहण करती है। क्योंकि वही आर्थिक विचारधारा प्रत्येक व्यक्तिके लिये धार्मिक हो सकती है जिससे शारीरिक शक्तिको विकसित करनेवाले साधन आसानीसे प्राप्त हो सकें।

आज समाजमें चलनेवाला शोषण (exploitation) जो कि पूँजीवादका कारण है, अधार्मिक है। शोषण समाजके प्रत्येक सदस्यको उचित और उपयुक्त मात्रामें शरीर धारणकी आवश्यक सामग्री देनेमें बाधक है। अतः पूँजीवाद आजके लिये अधार्मिक है।

धर्म और मार्क्स-विचारधारा

यद्यपि लोग मार्क्सको धर्मका विरोधी मानते हैं, पर वास्तविक कुछ और है। मार्क्स-ने जिस आदर्श समाजकी कल्पना की है, वह धर्मके बिना एक कदम भी नहीं चल सकता। पर इतना सुनिश्चित है कि मार्क्सकी धर्म परिभाषा केवल शारीरिक शक्तिके विकास तक ही सीमित है, मानसिक आध्यात्मिक शक्तिके विकास पर्यन्त उसकी पहुंच नहीं। जीवनके लिये सिर्फ भोजन और वस्त्र ही आवश्यक नहीं, किन्तु एक ऐसी वस्तुकी भी आवश्यकता है जो मानसिक और आध्यात्मिक तृप्तिमें कारण है; वह है संयम और आत्मनियन्त्रण। अतएव भौतिक दृष्टिसे समाजको सुव्यवस्थित करनेवाले आर्थिक परिस्थितिका निश्चयात्मक स्वभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ानेवाली पिपासाका विरोध और साधनोंके केन्द्रीयकरणका विरोध ये मार्क्सके सिद्धान्त भी संयम और आत्मनियन्त्रणके बिना सफल नहीं हो सकते।

धर्म और गांधी-विचारधारा

गाँधी विचारधाराने, जोकि जैनआर्थिक विचारधाराका अंश है, समाजके विकासमें बड़ा योग दिया है। महात्माजीने मानवकी भौतिक उन्नतिकी अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नतिपर अधिक जोर दिया है। उन्होंने जीवनका ध्येय केवल इह लौकिक विकास ही नहीं माना, किन्तु सत्य, अहिंसा और ईश्वरके विश्वास-द्वारा आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही जीवनका चरम लक्ष्य माना है।

मानवकी आर्थिक समस्याको सुलझानेके लिये, जो कि आजकी एक आवश्यक चीज है, उन्होंने असत्य और अहिंसाके सहारे मशीनयुगको समाप्त कर आत्मनिर्भर होनेका प्रतिपादन किया है। 'सादाजीवन और उच्चविचार' यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके प्रयोग-द्वारा सारी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। सादगीसे रहनेपर व्यक्तिके सामने आवश्यकताएँ कम रहेंगी, जिससे समाजकी छीना-झपटी दूर हो जायगी।

आर्थिक समस्या और अपना दृष्टिकोण

आजके युगमें शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमें एकमात्र सहायक अर्थ है। इसकी प्राप्तिके लिये धार्मिक नियमोंकी आवश्यकता है। अतः वर्तमानमें प्रचलित सभी आर्थिक विचारधाराओंका समन्वय कर कतिपय नियम नीचे दिये जाते हैं, जो कि जैनधर्म-सम्मत हैं और जिनके प्रयोगसे मानव समाज अपना कल्याण कर सकता है—

१—समाजका नया ढाँचा ऐसा तैयार किया जाय जिसमें किसीको भूखों मरनेकी नौबत न आवे और न कोई धनका एकत्रीकरण कर सके। शोषण, जो कि मानवसमाजके लिये अभिशाप है, तत्काल बन्द किया जाय।

२—अन्यायद्वारा धानार्जनका निषेध किया जाय—जुआ खेलकर धन कमाना, सट्टा-लॉटरी द्वारा धनार्जन करना; चोरी, ठगी, घूस, धूर्त्तता और चोरबाजारी-द्वारा धनार्जन करना; बिना श्रम किये केवल धनके बलसे धन कमाना एवं दलाली करना आदि धन कमानेके साधनोंका निषेध किया जाय।

३—व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास इतना किया जाय, जिससे विश्वप्रेमकी जागृति हो और सभी समाजके सदस्य शक्ति-अनुसार कार्य कर आवश्यकतानुसार धन प्राप्त करें।

४—समाजमें आर्थिक समत्व स्थापित करने लिये संयम और आत्मनियन्त्रणपर अधिक जोर दिया जाय; क्योंकि इसके बिना धनराशिका समान वितरण हो जानेपर भी चालाक और व्यवहार-कुशल व्यक्ति अपनी धूर्त्तता और चतुराईसे पूँजीका एकत्रीकरण करते ही रहेंगे। कारण, संसारमें पदार्थ थोड़े हैं, तृष्णा प्रत्येक व्यक्तिमें अनन्त हैं, फिर छीना-झपटी कैसे दूर हो सकेगी? संयम ही एक ऐसा है, जिससे समाजमें सुख और शान्ति देनेवाले आर्थिकप्रलोभनोंकी त्यागवृत्तिका उदय होगा। सच्ची शान्ति त्यागमें है, भोगमें नहीं। भले ही भोगोंको जीवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कहकर उनकी अनिवार्यता बतलाई जाती रहे; परन्तु इस भोगवृत्तिसे अन्तमें जी ऊब जाता है। विचारशील व्यक्ति इसके खोखलेपनको समझ जाता है। यदि यह बात न होती तो आज यूरोपसे भौतिक ऐश्वर्यके कारण घबड़ाकर जो धर्मकी शरणमें आनेकी आवाज आ रही है, सुनाई नहीं पड़ती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानवके विकासमें सहयोग देनेवाली राजनीति

प्रागैतिहासिक—भोगभूमि—कालमें न कोई राजा था और न कोई प्रजा। सभी आनन्द और प्रेमसे अपना जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु उदयकाल—कर्मभूमिके प्रारम्भमें जब स्वार्थोंका संघर्ष होने लगा तो राज्यव्यवस्थाकी नीव पड़ी और उत्तरोत्तर इसमें विकास समय और आवश्यकताके अनुसार होता रहा। राज्य-संचालनकी तीन विधियाँ प्रमुख हैं—राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र और प्रजातन्त्र।

तीनों तन्त्रोंकी व्याख्या और आलोचना

राजतन्त्रमें शासनकी बागडोर ऐसे व्यक्तिके हाथमें होती है जो वंशपरम्परासे राज्यका सर्वोच्च अधिकारी चला आ रहा हो। अधिनायकतन्त्रमें शासनसूत्र ऐसे व्यक्तिके हाथमें होता है जो जीवनभरके लिये या किसी निश्चित काल तकके लिये प्रधान शासकके रूपमें चुन लिया जाता है और प्रजातन्त्र-प्रणालीमें शासनसूत्र जनताके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंके हाथमें होता है।

इन तीनों तन्त्रोंमें गुण-दोष दोनों हैं; फिर भी प्रजातन्त्रप्रणाली नैतिक, आर्थिक और सामाजिक विकासमें अधिक सहायक है। पर इस प्रणालीमें इस बातपर ध्यान रखना होगा कि निर्वाचन विना किसी पक्षपात और लेन-देनके हो। रुपयोंके बलपर मत (वोट) खरीदकर किसी पदके लिये निर्वाचित होना परम अधार्मिकता है।

भारतके नवनिर्माणमें प्रजातन्त्र प्रणाली ही उपयोगी हो सकती है। समय और परिस्थितियोंके अनुसार यह प्रणाली व्यक्ति और समाजकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास कर सकती है। प्रेम, संयम और सहनशीलताका दायित्व मानवमात्रका होता है, इससे कोई भी अपराध नहीं करता। क्योंकि जनता अपने द्वारा निर्धारित नियमोंकी अवहेलना नहीं कर सकती है। जब प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक नियमोंका पालन करेगा तो राजकीय शक्तिका सदुपयोग अन्य विकासके साधनोंमें किया जायगा। अतः यह प्रेमका शासन समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये धार्मिक है।

समाज और धर्म

मानव सामाजिक प्राणी है, यह अकेले रहना पसन्द नहीं करता है, अतः उसे अपने विकासके लिये संगठनकी आवश्यकता होती है। किसी समानताके आधारपर जो संगठन किया जाता है, वही समाज कहलाता है। इस प्रकार जाति, धर्म, जीविका, संस्कृति, प्रान्त, देश प्रभृति विभिन्न बातोंके नामपर सङ्गठित व्यक्तियोंका समूह विभिन्न समाजोंमें बटा माना जायगा।

अपने समाज—वर्गविशेषको श्रेष्ठ समझकर अन्य वर्गोंसे द्वेष करना, अधार्मिकता है। आज जातिद्वेष, धर्मद्वेष, प्रान्तविद्वेष, भाषाविद्वेष, व्यवसायविद्वेष विभिन्न-प्रकारके द्वेष वर्तमान हैं, जिनके कारण समाजमें अत्यन्त अशान्ति है। राग और द्वेष ये दोनों ही अधर्म हैं, विशुद्ध प्रेमका व्यापकरूप ही धर्मके अन्तर्गत आता है। अतः अपनेको बड़ा और अन्यको छोटा समझकर घृणा करना अमानवता है। सामाजिक विकासके लिये निम्न धार्मिक नियमोंका पालन करना आवश्यक है—

१ सहानुभूति, २ अहङ्कार और द्वेषका त्याग, ३ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना, जो व्यवहार अपनेको नहीं रुचता उसे अन्यके साथ नहीं करना, ४ धार्मिक सहिष्णुता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५ नैतिकस्तरको उन्नत करनेके लिये सदाचार, भ्रातृत्व-भावना, नम्रता, वात्सल्य, सेवा-शुश्रूषा-की प्रवृत्ति आदि गुणोंका विकास एवं ६ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहकी भावनाओंका प्रचार करना।

मानसिकशक्ति और उसके विकासके साधन

मानसिकशक्तिमें बुद्धि, मन, हृदय और मस्तिष्कका विकास शामिल है। इन चारोंके विकसित हुए बिना धर्मका पालन यथार्थतः नहीं हो सकता। जिस प्रकार शरीरके विकासके लिये उत्तम भोजनकी आवश्यकता है उसी प्रकार मानवकी मानसिक शक्तिके विकासके लिये साहित्य और कलाकी आवश्यकता है। गहराईमें पैठनेपर पता लगता है कि कलाका अर्थ संकुचित नहीं, किन्तु सम्यक् प्रकार जीना भी कलामें परिगणित है। केवल पेट भरना और अन्तमें 'रामनाम सत्य हो जाना' जीना नहीं है; अतएव वे धार्मिक नियम कला हैं जिनके सेवनसे शरीर ऐसा सबल हो, जिससे किसी भी प्रकारका रोग उत्पन्न न हो सके, आलस्य और थकावट न मालूम हो। मन इतना पवित्र हो जिससे बुरे विचार कभी उत्पन्न न हों; ऊँचे आदर्शकी कल्पनाएँ उद्बुद्ध हों, हृदय इतना निर्मल हो, कि दया और अहिंसाकी भावनाएँ उत्पन्न हों एवं बुद्धि ऐसी हो जिससे सत्-असत्का यथार्थ निर्णय कर सके। धर्मका कार्य इसी कलाको सिखलाना है, वासना उद्बुद्ध करनेवाली कलाको नहीं।

आत्मिकशक्ति और उसके विकासके साधन

आत्मिक गुण ज्ञान, दर्शन और चारित्रका विकास करना धर्मका चरम लक्ष्य है। इनके पूर्ण विकसित होनेपर ही शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है।

साधकके लिये सबसे आवश्यक यह है कि वह सर्व प्रथम आत्मतत्त्वका विश्वास कर अनात्मिक भावोंको छोड़नेका प्रयत्न करे। जबतक मानवकी बुद्धि भौतिक सुखोंकी ओर रहती है, आध्यात्मिक शक्तिका विकास नहीं होता; लेकिन जैसे-जैसे भौतिकतासे ऊपर उठता जाता है; आत्मिक गुण प्रकट होने लगते हैं। जो संयम—इन्द्रियनिग्रह-भोजन-वस्त्रकी चिन्ता रखनेवाले व्यक्तिको बुरा मालूम होता है, वही संयम विकसित मस्तिष्क और हृदय-वालेको कल्याणकारी होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रत्यक्षके प्रयोगसे इन्कार करता है, बल्कि यह है कि इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक और विनाशीक होनेके कारण पूर्णतृप्तिमें असमर्थ हैं। पूर्णतृप्तिके साधन त्याग, विनय, संयम, आत्मचिन्तन, क्षमा, मार्दव, शौच और ब्रह्मचर्य आदि हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि धर्मका सम्बन्ध जहाँ आत्मकल्याणके साथ है, वहाँ आजकी रोटी और वस्त्रकी समस्याओंको भी सुलझाना है। केवल आध्यात्मवाद आजके युगमें धर्मका विश्लेषण नहीं कर सकता। धर्मसे लोगोंके मनमें जो ग्लानि और उपेक्षा उत्पन्न होगई है. उसका मूल कारण आजकी समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न न करना ही है। यदि लोग धर्मको परलोककी वस्तु न मानकर आजकी दुनियाकी वस्तु समझें और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियोंको सुलझानेमें उसका उपयोग करें तो लोगोंके लिये धर्म हौआ न रहे। यह तो ऐसा पवित्र पदार्थ है जिसके सामने ऊँच-नीच, छुआ-छूत, छोटा-बड़ा, घृणा-द्वेष, कलह-राग, आदि बातें क्षणभर भी नहीं ठहर सकतीं हैं। आज लोगोंने धर्मके गलेको घोंटकर उसे साम्प्रदायिकताका जामा पहना दिया है, जिससे वह सिर्फ परलोककी वस्तु बन गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मश्रुतसागरका समय और साहित्य

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

ब्रह्मश्रुतसागर मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दी था, जो भट्टारक पद्मनन्दीके प्रशिष्य और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। और देवेन्द्रकीर्तिके बाद भट्टारक पदपर आसीन हुए थे। विद्यानन्दीके बाद उक्त पदपर क्रमशः मल्लिभूषण और लक्ष्मीचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। इनमें मल्लिभूषणगुरु श्रुतसागरको परम आदरणीय गुरुभाई मानते थे और इनकी प्रेरणासे श्रुतसागरने कितने ही ग्रन्थोंका निर्माण किया है। ये सब सूरतकी गद्दीके भट्टारक हैं[1]। इस गद्दीकी परम्परा भ० पद्मनन्दीके बाद देवेन्द्रकीर्तिसे प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। ब्रह्मश्रुतसागर भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे; किन्तु वे जीवनपर्यन्त देशव्रती ही रहे जान पड़ते हैं, उन्होंने अपनेको ग्रन्थोंमें 'देशव्रती' शब्दसे उल्लेखित भी किया है। वे संस्कृत और प्राकृत भाषाके अच्छे विद्वान् थे। उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ, उभय भाषाकविचक्रवर्ती, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण और नवनवतिमहावादि विजेता' आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं जिनसे उनकी प्रतिष्ठा और विद्वत्ताका अनुमान लगाया जा सकता है।

अब जानना यह है कि वे कब हुए हैं? यद्यपि श्रुतसागरजीने अपनी कृतियोंमें उनका रचनाकाल नहीं दिया जिससे यह बतलाया जा सके कि उन्होंने अमुक समयसे लेकर अमुक समय तक किन किन ग्रन्थोंकी किस क्रमसे रचना की है; किन्तु अन्य दूसरे साधनोंके आधारसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रह्मश्रुतसागरका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका प्रथम, द्वितीय व तृतीय चरण है। अर्थात् वे वि० सं० १५००से १५७५के मध्यवर्ती विद्वान् हैं। इसके दो आधार हैं एक तो यह कि भट्टारक विद्यानन्दीके वि० सं० १४९९से वि० सं० १५२३ तकके ऐसे मूर्तिलेख पाये जाते हैं जिसकी प्रतिष्ठा भ० विद्यानन्दीने स्वयं की है अथवा जिनमें भ० विद्यानन्दीके उपदेशसे प्रतिष्ठित होनेका समुल्लेख पाया जाता है[2]। और मल्लिभूषण-गुरु[3] वि० सं० १५४४ तक या उसके कुछ समय बाद तक पट्टपर आसीन रहे हैं ऐसा सूरत आदिके मूर्तिलेखोंसे स्पष्ट जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि भ० विद्यानन्दीके प्रियशिष्य ब्रह्म-श्रुतसागरका भी यही समय है। क्योंकि यह विद्यानन्दीके प्रधान शिष्य थे। दूसरा आधार यह है कि उनकी रचनाओंमें एक 'व्रतकथाकोश'का भी नाम दिया हुआ है, जिसे मैंने देहलीके पञ्चायती मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें देखा था और उसकी आदि अन्तकी प्रशस्तियाँ भी नोट की थीं, उनमें २४वीं 'पल्यविधानकथा'की प्रशस्तिमें ईडरके राठौर राजाभानु अथवा रावभाणजीका उल्लेख किया गया है और लिखा है कि 'भानुभूपतिकी भुजारूपी तलवारके जल प्रवाहमें शत्रुकुलका विस्तृत प्रभाव निमग्न होजाता था और उनका मन्त्री हुंबड कुलभूषण भोजराज था, उसकी पत्नीका नाम विनयदेवी था जो अतीव पतिव्रता साध्वी और जिनदेवके चरणकमलोंकी उपासिका थी। उससे चार पुत्र उत्पन्न

---

१ देखो, दानवीर माणिकचन्द पृ० ३७।

२ देखो, गुजरातीमन्दिर सूरतके मूर्तिलेख, दानवीर माणिकचन्द पृ० ५३, ५४।

३ मल्लिभूषणके द्वारा प्रतिष्ठित पद्मावतीकी सं० १५४४की प्रतिष्ठित एक मूर्ति, जो सूरतके बड़े मन्दिरजी-में विराजमान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए थे, उनमें प्रथम पुत्र कर्मसिंह, जिसका शरीर भूरिरत्नगुणोंसे विभूषित था और दूसरा पुत्र कुलभूषण काल था, जो शत्रुकुलके लिये कालस्वरूप था, तीसरा पुत्र पुण्यशाली श्रीघोषर, जो सघन पापरूपी गिरीन्द्रके लिये वज्रके समान था और चौथा गङ्गाजलके समान निर्मल मनवाला गङ्ग। इन चार पुत्रोंके बाद इनकी एक बहिन भी उत्पन्न हुई थी जो ऐसी जान पड़ती थी कि जिनवरके मुखसे निकली हुई सरस्वती हो अथवा दृढ़सम्यक्त्ववाली रेवती हो, शीलवती सीता हो और गुणरत्नराशि राजुल हो'। श्रुतसागरजीने स्वयं संघसहित उसके साथ गजपन्थ और तुङ्गीगिरि आदिकी यात्रा की थी और वहाँ उसने नित्य जिन पूजनकी, तप किया और संघको दान दिया था'। जैसा कि उक्त प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे स्पष्ट है:—

"श्रीभानुभूपति-भुजासिजलप्रवाह-निर्मग्नशत्रुकुलजाततप्रभावः ।
सद्वृद्ध्यहुंबृहकुले बृहतीलदुर्गे श्रीभोजराजइति मंत्रिवरो बभूव ॥४४॥"
भार्यास्य सा विनयदेव्यभिधासुधोपसोद्गारवाककमलकांतमुखी सखीव ।
लक्ष्म्याः प्रभोर्जिनवरस्य पदाब्जभृङ्गी साध्वीपतिव्रतगुणामणिवन्महार्घ्या ॥४५॥
सा सूत भूरिगुणारत्नविभूषितांगं श्रीकर्मसिंहमितिपुत्रमनूकरत्नं ।
कालं च शत्रुकुलकालमनूनपुण्यं श्रीघोषरं घनतराघगिरीन्द्रवज्रं ॥४६॥
गङ्गाजलप्रविलोच्यमनोनिकेतं तुर्यं च वर्यतरमंगजमत्र गंगं ।
जाता पुरस्तदनुपुत्तलिका स्वसैषां चक्रेषु सज्जिनवरस्य सरस्वतीव ॥४७॥
सम्यक्त्वदार्ढ्यकलिता किलरेवतीव सीतेव शीलसलिलोक्षितभूरिभूमिः ।
राजीमतीव सुभगागुणरत्नराशि वेलासरस्वती इवांचति पुत्तलीह ॥४८॥
यात्रां चकार गजपंथगिरौ ससंघाद्यं तत्तपो विदधती सुदृढव्रता सा ।
सच्छान्तिकं गणसमर्चनमर्हदीश नित्यार्चनं सकलसंघ सदत्तदानं ॥४९॥
तुंगीगिरौ च बलभद्रमुनेः पदाब्जभृङ्गी तथैव सुकृतं यतिभिश्चकार ।
श्रीमल्लिभूषणगुरुप्रवरोपदेशाच्छास्त्रं व्यधाय यदिदं कृतिनां हृदिष्टं ॥५०॥

—पल्यविधान कथा प्रशस्ति।

उक्त प्रशस्ति पद्योंमें उल्लिखित भानुभूपति ईडरके राठौरवंशी राजा थे। यह रावपूंजोजी प्रथमके पुत्र और राव नारायणदासजीके भाई थे और उनके बाद राज्यपदपर आसीन हुए थे। इनके समय वि० सं० १५०२में गुजरातके बादशाह मुहम्मदशाह द्वितीयने ईडरपर चढ़ाई की थी तब उन्होंने पहाड़ोंमें भागकर अपनी रक्षा की, बादमें उन्होंने सुलह करली थी। फारसी तवारीखोंमें इनका वीरराय नामसे उल्लेख किया गया है। इनके दो पुत्र थे सूरजमल्ल और भीमसिंह। रावभाणजीने सं० १५०२से १५५२ तक राज्य किया है[1] इनके बाद रावसूरजमल्लजी सं० १५५२में राज्यासीन हुए थे। रावभाणजीके राज्यकालमें ही उक्त 'पल्यविधान कथा'की रचना हुई है। इससे श्रुतसागरका समय विक्रमकी सोहलवीं शताब्दीका प्रथम-द्वितीय चरण निश्चित होता है।

श्रुतसागरकी मृत्यु कब और कहाँ हुई उसका कोई निश्चित आधार अबतक नहीं मिला इसीसे उनके उत्तर समयकी निश्चित सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर भी स० १५८२से पूर्व तक उसकी सीमा जरूर है और जिसका आधार निम्न प्रकार है:—

श्रुतसागरने पं० आशाधरजीके महाअभिषेकपाठपर एक टीका लिखी है जो अभिषेकपाठसंग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है। उसकी लेखक प्रशस्ति सं० १५८२की है[2] जिसे

१ देखो, भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० ४२७।

२ सं० १५८५की लिखी हुई श्रुतसागरकी षट्पाहुड टीकाकी एक प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है और उसकी लेखक प्रशस्ति मेरी नोटबुकमें उद्धृत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भ० लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मज्ञानसागरके पठनार्थ आर्या विमलश्रीकी चेली और भ० लक्ष्मीचन्द्र द्वारा दीक्षित विनयश्रीने स्वयं लिखकर प्रदान की थी। इसके सिवाय, ब्रह्मनेमिदत्तने अपने आराधनाकथाकोश, श्रीपालचरित, सुदर्शनचरित, रात्रिभोजनत्यागकथा और नेमिनाथ पुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रुतसागरका आदर पूर्वक स्मरण किया है। इन ग्रन्थोंमें आराधनाकथाकोश सं० १५७५के लगभगकी रचना है और श्रीपालचरित सं० १५८५में रचा गया है। शेष रचनाएँ इसी समयके मध्यकी या आसपासके समयकी जान पड़ती हैं।

ब्रह्मश्रुतसागरकी अब तक ३६ रचनाओंका[1] पता चला है जिनमेंसे ८ टीकाग्रन्थ हैं और शेष सब स्वतन्त्र कृतियाँ हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ यशस्तिलकचन्द्रिका, २ तत्त्वार्थवृत्ति, ३ तत्त्वत्रयप्रकाशिका, ४ जिनसहस्रनामटीका, ५ महाअभिषेकटीका, ६ षट्पाहुडटीका, ७ सिद्धभक्तिटीका, ८ सिद्धचक्राष्टकटीका, ९ ज्येष्ठजिनवरकथा, १० रविव्रतकथा, ११ सप्तपरमस्थानकथा, १२ मुकुटसप्तमीकोथा, १३ अक्षयनिधिकथा, १४ षोडशकारणकथा, १५ मेघमालाव्रतकथा, १६ चन्दनषष्ठीकथा, १७ लब्धिविधानकथा, १८ पुरन्दरविधानकथा, १९ दशलाक्षिणीव्रतकथा, २० पुष्पाञ्जलिव्रतकथा, २१ आकाशपञ्चमीकथा, २२ मुक्तावलिव्रतकथा, २३ निर्दुखसप्तमीकथा, २४ सुगन्धदशमीकथा, २५ श्रवणद्वादशीकथा, २६ रत्नत्रयव्रतकथा, २७ अनन्तव्रतकथा, २८ अशोकरोहिणीकथा, २९ तपोलक्षणपंक्तिकथा, ३० मेरुपंक्तिकथा, ३१ विमानपंक्तिकथा, ३२ पल्यविधानकथा। (इन कथाओंमें नं० ९से लेकर ३२ तकके ग्रन्थ 'व्रतकथाकोश' नामसे एक ग्रन्थमें संग्रह कर दिये गये हैं; परन्तु वे एक ग्रन्थके अङ्ग नहीं हैं उनमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके अनुरोध एवं उपदेशादि द्वारा रचे जानेका स्पष्ट उल्लेख निहित है इसीसे यहाँ उन्हें एक ग्रन्थका नाम न देकर स्वतन्त्र २४ ग्रन्थके रूपमें उल्लेखित किया है)। ३३ श्रीपालचरित, ३४ यशोधरचरित, ३५ औदार्यचिन्तामणी (प्राकृत स्वोपज्ञवृत्तियुक्तव्याकरण) ३६ श्रुतस्कन्धपूजा। ता० २५-१-४६

सुधार-सूचना

अनेकान्तकी गत १०वीं किरणके प्रथम पृष्ठपर प्रकाशित 'मदीया द्रव्यपूजा' नामकी कविताके छपनेमें कुछ अशुद्धियाँ होगई हैं और कुछ उसके लेखक युगवीरजीने उसमें थोड़ा-सा नया संस्कार भी किया है अतः पाठक अपनी-अपनी प्रतिमें उसको निम्न प्रकारसे सुधार कर पढ़नेकी कृपा करें:—

प्रथम पद्यमें 'मयं'की जगह 'मिदं' और 'समर्पयामि इति'की जगह 'समर्पयेऽहमिति' बना लेवें। द्वितीय पद्यमें 'एतच्चाऽऽर्द्रदि'के स्थानपर 'एतन्मे हृदि', 'रसयुतै-रत्नादिपानैःसह'के स्थानपर 'रसयुतैरत्नादिभीरोचनैः', 'त्वर्पण-व्यर्थता'के स्थानपर 'त्वर्पण-मोघता' और 'सद्भेषजाऽऽनर्घ्यवन्'के स्थानपर 'सद्भेषजाऽऽनर्घ्यवत्' ऐसा पाठ कर लेवें। तृतीय पद्यमें 'तत्तम्'की जगह 'तत्तत्' किया जाना चाहिये। चतुर्थ पद्यमें 'शिरौग्र'के स्थानपर 'शिरोऽग्र' और 'एतन्मे तव द्रव्य-पूजनमहो !'के स्थानपर एतद्द्रव्यसुपूजनं मम विभो !' बना लेना चाहिये। साथ ही इसके द्वितीय चरणमें द्वितीय पद्यके द्वितीय चरण-जैसा जो व्यर्थका डैश (—) पड़ा हुआ है उसे निकाल कर पूर्वापर अक्षरोंको मिला देना चाहिये और अन्तमें लेखकका नाम 'युगवीर' दे देना चाहिये। —प्रकाशक

१ नं० १, ५, ६की टीकाएँ प्रकाशित होचुकी हैं नं० २की टीका भारतीयज्ञानपीठकाशीसे प्रकाशित हो रही है। नं० ३, ४की टीकाएँ और शेष सब ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानवजातिके पतनका मूल कारण-संस्कृतिका मिथ्यादर्शन

(प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, भारतीयज्ञानपीठ काशी)

संस्कृतिके स्वरूपका मिथ्यादर्शन ही मानवजातिके पतनका मुख्य कारण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह अपने आस-पासके मनुष्योंको प्रभावित करता है। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर आता है। उत्पत्तिकी बात जाने दीजिये। यह आत्मा जब एक देहको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये किसी स्त्रीके गर्भमें पहुंचता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर जाता है। पूर्व पर्यायकी यावत् शक्तियाँ उसी पर्यायके साथ समाप्त हो जाती हैं कुछ सूक्ष्म संस्कार ही जन्मान्तर तक जाते हैं। उस समय उसका आत्मा सूक्ष्मकार्मण शरीरके साथ रहता है। वह जिस स्त्रीके गर्भमें पहुंचता है वहाँ प्राप्त वीर्यकण और रजःकणसे बने हुए कललपिण्डमें विकसित होने लगता है। जैसे संस्कार उस रजकण और वीर्यकणमें होंगे उनके अनुसार तथा माताके आहार-विहार विचारोंके अनुकुल वह बढ़ने लगता है। वह तो कोमल मोमके समान है जैसा साँचा मिल जायगा वैसा ढल जावेगा। अतः उसका ९९ प्रतिशत विकास उन माता-पिताके संस्कारोंके अनुसार होता है। यदि उनमें कोई शारीरिक या मानसिक बीमारी है तो वह बच्चेमें अवश्य आजायेगी। जन्म लेनेके बाद वह माँ बापके शब्दोंको सुनता है उनकी क्रियाओंको देखता है। आसपासके लोगोंके व्यवहारके संस्कार उसपर क्रमशः पड़ते जाते हैं। और वह संस्कारोंका पिण्ड बन जाता है। एक ब्राह्मणसे उत्पन्न बालकको जन्मते ही यदि मुसलमानके यहाँ पालनेको रख दिया जाय तो उसमें वैसे ही खान-पान, बोलचाल, आचार-विचारके संस्कार पड़ जायेंगे। वही उल्टे हाथ धोना, अब्बाजान बोलना, सलामदुआ करना, मांस खाना उसी मग्गेसे पानी पीना, उसीसे टट्टी जाना आदि। यदि वह किसी भेड़ियेकी माँदमें चला जाता है तो वह चौपायोंकी तरह चलने लगता है। कपड़ा पहिनना भी उसे नहीं सुहाता, नाखूनसे दूसरोंको नोचता है। शरीरके आकारके सिवाय सारी बातें भेड़ियों जैसी हो जाती हैं। यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहाँ पले तो उसमें बहुत कुछ संस्कार ब्राह्मणोंके आजायेंगे। हाँ, नौ माह तक चाण्डालीके शरीरसे जो उसमें संस्कार पड़े हैं वे कभी कभी उद्बुद्ध होकर उसके चाण्डालत्वका परिचय करा देते हैं। तात्पर्य यह कि मानवजातिकी नूतन पीढ़ीके लिये बहुत कुछ माँ बाप उत्तरदायी हैं। उनकी बुरी आदतें, खोटे विचार उस नवीन पीढ़ीमें अपना घर बना लेते हैं। आज जगत्में सब चिल्ला रहे हैं संस्कृतिकी रक्षा करो संस्कृति डूबी संस्कृति डूबी उसे बचाओ। इस संस्कृतिके नामपर उसके अजायबघरमें अनेक प्रकारकी बेहूदगी भरी हुई है। कल्पित ऊँचनीच भाव, अमुक प्रकारके आचार-विचार, रहन-सहन, बोलनाचालना, उठनाबैठना आदि सभी शामिल हैं।

इस तरह जब चारों ओरसे संस्कृति रक्षाकी आवाज आरही है और यह उचित भी है तो सबसे पहिले सस्कृतिकी परीक्षा होना जरूरी है। कहीं संस्कृतिके नामपर मानवजातिके विनाशके साधनका पोषण तो नहीं किया जा रहा। ब्रिटेनमें अंग्रेज जाति यह प्रचार करती रही कि—गोरी जातिको ईश्वरने काली जातिपर शासन करनेके लिये ही भूतलपर भेजा है और इसी कुसंस्कृतिका प्रचार कर वे भारतीयोंपर शासन करते रहे। यह तो हम लोगोंने उनके ईश्वरको बाध्य किया कि वह उनसे कह दे कि अब शासन करना छोड़ दो और उसने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाध्य होकर छोड़ दिया। जर्मनीने अपने नवयुवकोंसे इस संस्कृतिका प्रचार किया कि जर्मन एक आर्य रक्त है। वह सर्वोत्तम है। वह यहूदियोंके विनाशके लिये है और जगतमें शासन करनेकी योग्यता उसीमें है। यह भाव प्रत्येक जर्मन युवकमें उत्पन्न किया गया। उसका परिणाम द्वितीय महायुद्धके रूपमें मानवजातिको भोगना पड़ा और ऐसी ही कुसंस्कृतियोंके प्रचार से तीसरे महायुद्धकी सामग्री इकट्ठी की जा रही है। भारतवर्षमें सहस्रों वर्षसे जातिगत उच्चता-नीचता छुआछूत दासीदास प्रथा स्त्रीको पद दलित करनेकी संस्कृतिका प्रचार धर्मके ठेकेदारोंने किया और भारतीय प्रजाके बहुभागको अस्पृश्य घोषित किया, स्त्रियोंको मात्र भोग विलासकी सामग्री बनाकर उन्हें पशुसे भी बदतर अवस्थामें पहुंचा दिया। रामायण जैसे धर्मग्रन्थमें 'ढोलगँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़नके अधिकारी।" जैसी व्यवस्थाएँ दी गई और मानवजातिमें अनेक कल्पित भेदोंकी सृष्टि करके एकवर्गके शोषणको शासनको विलासको प्रोत्साहन दिया, उसे पुण्यका फल बताया और उसके उच्छिष्ट कणोंसे अपनी जीविका चलाई। नारी और शूद्र पशुके समान करार दिये गए और उन्हें ढ़ालकी तरह ताड़नाका पात्र बताया। इस धर्म व्यवस्थाको आज संस्कृतिके नामसे पुकारा जाता है जिस पुरोहितवर्गकी धर्मसे आजीविका चलती है उनकी पूरी सेना इस संस्कृतिकी प्रचारिका है। पशुओंको ब्रह्माने यज्ञके लिये उत्पन्न किया है अतः ब्रह्माजीके नियमके अनुसार उन्हें यज्ञमें झोंका। जिस गोकी रक्षाके बहाने मुसलमानोंको गालियाँ दी जाती हैं उन याज्ञिकोंकी यज्ञशालामें गोमेधयज्ञ धर्मके नामपर बराबर होते थे। अतिथि सत्कारके लिये इन्हें गायकी बछियाका भर्ता बनानेमें कोई सङ्कोच नहीं था। कारण स्पष्ट था ब्राह्मण ब्रह्माका मुख है, धर्मशास्त्रकी रचना उसके हाथमें थी। इस वर्गके हितके लिये वे जो चाहे लिख सकते हैं। उनने तो यहाँ तक लिखनेका साहस किया है कि—"ब्रह्माजीने सृष्टिको उत्पन्न करके ब्राह्मणोंको सौंप दी थी अर्थात् ब्राह्मण इस सारी सृष्टिके ब्रह्माजीसे नियुक्त स्वामी हैं। ब्राह्मणोंकी असावधानीसे ही दूसरे लोग जगत्के पदार्थोंके स्वामी बने हुए हैं। यदि ब्राह्मण किसीको मारकर भी उसकी सम्पत्ति छीन लेता है तो वह अपनी ही वस्तु वापिस लेता है, उसकी वह लूट सत्कार्य है वह उस व्यक्तिका उद्धार करता है"। इन ब्रह्ममुखोंने ऐसी ही स्वार्थ पोषण करनेवाली व्यवस्थाएँ प्रचारित कीं। जिससे दूसरे लोग ब्राह्मणके प्रभुत्वको न भूलें। गर्भसे लेकर मरण तक सैकड़ों संस्कार इनकी आजीविकाके लिये क़ायम हुए। मरणके बाद श्राद्ध वार्षिक त्रैवार्षिक आदि श्राद्ध इनकी जीविकाके आधार बने। प्राणियोंके नैसर्गिक अधिकारोंको अपने आधीन बनानेके आधारपर संस्कृतिके नामसे प्रचार होता रहा है। ऐसी दशामें इस संस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना जगत्में शान्ति और व्यक्तिकी मुक्ति कैसे हो सकती है। वर्ग विशेषकी प्रभुताके लिये किया जानेवाला यह विषैला प्रचार ही मानवजातिके पतन और भारतकी पराधीनताका कारण हुआ। आज भारतमें स्वातन्त्र्योदय होनेपर भी वही ज़हरीली धारा 'संस्कृतिरक्षा'के नामपर युवकोंके कोमल मस्तिष्कोंपर प्रवाहित करनेका पूरा प्रयत्न वही वर्ग कर रहा है। हिन्दीके रक्षा के पीछे वही भाव हैं। पुराने समयमें इस वर्गने संस्कृतको महत्ता दी थी और संस्कृतके उच्चारणको पुण्य और दूसरी जनभाषा-अपभ्रंशके उच्चारणको पाप बताया था। नाटकोंमें स्त्री और शूद्रोंसे अपभ्रंश या प्राकृत भाषाका बुलवाया जाना उसी भाषाधारित उच्चनीच भावका प्रतीक है। आज संस्कृत निष्ठ हिन्दीका समर्थन करनेवालोंका बड़ा भाग जनभाषाकी अवहेलनाके भावसे ओत-प्रोत है। अतः जबतक जगत्के प्रत्येक द्रव्यकी अधिकार सीमाका वास्तविक यथार्थ दर्शन न हो तब तक यह धाँधली चलती रहेगी। धर्मरक्षा, संस्कृति रक्षा, गौरक्षा, हिन्दीरक्षा, राष्ट्रीयस्वयंसेवकसंघ, धर्मसंघ आदि बड़े-बड़े आवरण हैं।

जैनसंस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर ही सर्वप्रथम ध्यान दिलाया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और कहा कि इसका सम्यग्दर्शन हुए बिना बन्धन-मोक्ष नहीं हो सकता। उसकी स्पष्ट घोषणा है—

१. प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, उसका मात्र अपने विचार और अपनी क्रियाओंपर अधिकार है, वह अपने ही गुण-पर्यायका स्वामी है। अपने सुधार-बिगाड़का स्वयं जिम्मेदार है।

२. कोई ऐसा ईश्वर नहीं जो जगतके अनन्त पदार्थोंपर अपना नैसर्गिक अधिकार रखता हो, उसका नियन्त्रण करता हो, पुण्य-पापका हिसाब रखता हो और स्वर्ग-नरकमें जीवोंको भेजता हो, सृष्टिका नियन्ता हो।

३. एक आत्माका दूसरी आत्मापर तथा जड द्रव्योंपर कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है। दूसरी आत्माको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा ही अनधिकार चेष्टा है अतएव हिंसा और मिथ्या दृष्टि है।

४. दूसरी आत्माएँ अपने स्वयंके विचारोंसे यदि किसी एकको अपना नियन्ता लोकव्यवहारके लिये नियुक्त करती या चुनती हैं तो यह उन आत्माओंका अपना अधिकार हुआ न कि उस चुनेजानेवाले व्यक्तिका जन्मसिद्ध अधिकार। अतः सारी लोक-व्यवहार-व्यवस्था सहयोगपर निर्भर है न कि जन्मजात अधिकारपर।

५. ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण-व्यवस्था अपने गुण-कर्मके अनुसार है जन्मसे नहीं।

६. गोत्र एक पर्यायमें भी बदलता है, वह गुण-कर्मके अनुसार है।

७. परद्रव्योंका संग्रह और परिग्रह ममकार और अहङ्कारका हेतु होनेसे बन्धकारक है।

८. दूसरे द्रव्योंको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा ही समस्त अशान्ति, दुःख, संघर्ष और हिंसाका मूल है। जहाँ तक अचेतन पदार्थोंके परिग्रहका प्रश्न है यह छीन-झपटीका कारण होनेसे संक्लेशकारक है अतः हेय है।

९. स्त्री हो या पुरुष धर्ममें उसे कोई रुकावट नहीं। यह जुदी बात है कि वह अपनी शारीरिक मर्यादाके अनुसार ही विकास कर सकती है।

१०. किसी वर्गविशेषका जन्मजात कोई धर्मका ठेका नहीं है। प्रत्येक आत्मा धर्मका अधिकारी है। ऐसी कोई क्रिया धर्म नहीं हो सकती जिसमें प्राणिमात्रका अधिकार न हो।

११. भाषा भावोंको दूसरे तक पहुंचानेका माध्यम है अतः जनताकी भाषा ही ग्राह्य है।

१२. वर्ण, जाति, रङ्ग देश, आदिके कारण आत्माधिकारमें भेद नहीं है ये सब शरीराश्रित हैं।

१३. हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि पन्थ-भेद भी आत्माधिकारके भेदक नहीं हैं। आदि।

१४. वस्तु अनेक धर्मात्मक है उसका विचार आदि उदार दृष्टिसे होना चाहिये।

सीधी बात तो यह है कि—हमें एक ईश्वरवादी शासक संस्कृतिका प्रचार इष्ट नहीं है। हमें तो प्राणिमात्रको समुन्नत बनानेका अधिकार स्वीकार करने वाली सर्वसमभावी संस्कृतिका प्रचार करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जबतक हम इस सर्वसमा संस्कृतिका प्रचार नहीं करेंगे तबतक जातिगत उच्चत्व नीचत्व, स्पृश्यास्पृश्यत्व आदिके दूषित विचार पीढ़ी दर पीढ़ी मानव समाजको पतनकी ओर ले जायेंगे। अतः मानव समाजकी उन्नतिके लिये आवश्यक है कि संस्कृति और धर्म विषयक दर्शन स्पष्ट और सम्यक् हों। उसका आधार सर्वभूतमैत्री हो न कि वर्गविशेषका प्रभुत्व या जातिविशेषका उच्चत्व। इस तरह जब हम इस आध्यात्मिक संस्कृतिके विषयमें स्वयं सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे तभी हम मानव जातिका विकास कर सकेंगे। अन्यथा यदि हमारी दृष्टि मिथ्या हुई तो हम तो पतित हैं ही अपनी सन्तान और मानव सन्तानका बड़ा भारी अहित उस विषाक्त सर्वंकषा संस्कृतिका प्रचार करके करेंगे। अतः मानव समाजके पतनका मुख्य कारण मिथ्यादर्शन और उत्थानका मुख्य साधन सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। जब हम स्वयं इन सर्वसमभावी उदार भावोंसे सुसंस्कृत होंगे तो वही संस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्तानमें तथा विचार-प्रचारद्वारा पास-पड़ोसके मानव सन्तानोंमें जायेंगे और इस तरह हम ऐसी नूतन पीढ़ीका निर्माण करनेमें समर्थ होंगे जो अहिंसक समाज-रचनाका आधार बनेगी। यही भारतभूमिकी विशेषता है जो इसने महावीर और बुद्ध जैसे श्रमण सन्तों द्वारा इस उदार आध्यात्मिकताका सन्देश जगत्को दिया। आज विश्व भौतिक विषमतासे त्राहि त्राहि कर रहा है। जिनके हाथमें बाह्य साधनोंकी सत्ता है अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे जो अत्यधिक अनधिकार चेष्टा कर परद्रव्योंको हस्तगत करनेके कारण मिथ्या दृष्टि और बन्धवान् हैं वे उस सत्ताका उपयोग दूसरी आत्माओंको कुचलनेमें करना चाहते हैं। और चाहते हैं कि संसारके अधिकसे अधिक पदार्थोंपर उनका अधिकार हो और इस लिप्साके कारण वे संघर्ष, हिंसा, अशान्ति, ईर्षा, युद्ध जैसी तामस भावनाओंका सर्जन कर विश्वको कलुषित कर रहे हैं। धन्य है इस भारतको जो इस बीसवीं सदीमें भी हिंसा बर्बरताके इस दानवयुगमें भी उसी आध्यात्मिक मानवताका सन्देश देनेके लिये गाँधी जैसे सन्तको उत्पन्न किया। पर हाय अभागे भारत, तेरे ही एक कपूतने, कपूतने नहीं, उस सर्वंकषा संस्कृतिने जिसमें जातिगत उच्चत्व, नीचत्व आदि कुभाव पुष्ट होते रहे हैं और जिसके नामपर करोड़ों धर्मजीवी लोगोंकी आजीविका चलती है, उस सन्तके शरीरको गोलीका निशाना बनाया। गाँधीकी हत्या व्यक्तिकी हत्या नहीं है, यह तो उस अहिंसक सर्वसमा संस्कृतिके हृदयपर उस दानवी साम्प्रदायिक, हिन्दूकी ओटमें हिंसक विद्वेषिणी संस्कृतिका प्रहार है। अस्तु, मानवजातिके विकास और समुत्थानके लिये हमें संस्कृति विषयक सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही होगा और आत्माधिकारका सम्यग्ज्ञान लाभ करके उसे जीवनमें उतारना होगा तभी हम बन्धनमुक्त हो सकेंगे। स्वयं स्वतन्त्र रह सकेंगे और दूसरोंको स्वतन्त्र रहनेकी उच्चभूमिका तैयार कर सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चम्पानगर

(लेखक—श्यामलकिशोर झा)

ऑल इण्डिया रेडियो, पटना का चौपाल कार्यक्रम अच्छा गिना जाता है जिसका यश श्रीयुत् राधाकृष्णप्रसादको मिलना चाहिये, इन्होंने "बिहारके ऐतिहासिक स्थान" शीर्षक व्याख्यानमालाका आयोजन किया था जिसमें प्रस्तुत भाषण भी पढ़ा गया था। हम रेडियोके सौजन्यसे इसे यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

—मुनि कान्तिसागर

बिहारका अतीत बड़ा ही गौरवशाली रहा है। महान अशोकका बिहार दुनियाके दो बड़े धर्मों—बौद्धधर्म और जैनधर्मका जन्मस्थान रहा है। प्रतापी चन्द्रगुप्तका पाटलिपुत्र, स्वतन्त्र लिच्छिवियोंकी वैशाली, रामायणके प्रसिद्ध राजा रोमपादका अङ्ग, नालन्दा और विक्रम-शिलाके प्रसिद्ध विद्यापीठ, ये सब ऐतिहासिक बिहारके ऐतिहासिक स्थान रहे हैं। परन्तु, यहाँ हम प्राचीनकालमें चम्पा तथा आधुनिक समयके चम्पानगरकी बात करते हैं। चम्पा प्राचीन भारतकी एक प्रसिद्ध राजधानी रही है। हिन्दुओंके प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ रामायण और महाभारतमें चम्पाका उल्लेख आया है। वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थोंमें चम्पाका वर्णन किया गया है जिससे पता चलता है कि उस जमानेमें चम्पाका एक विशिष्ट स्थान था।

प्राचीन साहित्यमें चम्पा नामक नगरीकी अनेकता है। इसके नाम भी बहुतसे रहे हैं। जैसे, चम्पा, चम्पावती, चम्पापुरी तथा चम्पानगरी आदि। प्रसिद्ध यात्री हुएनसाँगके कथनानुसार चम्पा स्याम देशका ही नामान्तर है। इसके विपरीत कर्नल मार्कोपोलोने कम्बोडियाके अन्तर्गत टानक्रीन नामक प्रदेशको चम्पा बतलाया है। तीसरा मत स्वर्गीय डा० सर ओरलास्टीन महोदयका है जिन्होंने पंजाबके चम्बा स्टेट (रियासत)को ही पुरातन चम्पा बतलाया है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालयद्वारा सम्पादित और मुद्रित "चेपीय जातक" में लिखा है कि अङ्ग देश और मगध देशके मध्यमें जो चम्पा नदी वाला प्रदेश है वही चम्पा है। इसी तरह चम्पाके स्थान निर्णयपर और भी बहुतसे विद्वानोंने बहुत-सी रायें पेश की हैं।

यहाँ हम जिस चम्पानगरीकी बात कर रहे हैं, वह भागलपुर शहरसे ४ मील पश्चिम है। रामायण, पुराण आदि धर्मग्रन्थोंमें वर्णित चम्पानगरी कभी एक प्रादेशिक राजधानी थी, परन्तु आज वह भागलपुर शहरकी सिर्फ एक मुहल्लाके रूपमें जानी जाती है। इसका आरम्भिक नाम चम्पा तथा चम्पामालिनी रहा है। रामायणमें कहा गया है कि चम्पा 'रोमपाद' नामक अङ्ग देशके राजाकी राजधानी थी। रोमपादने राजा दशरथकी पुत्री शान्ताको गोद ले लिया था और रोमपादके पोते चम्पाके नामपर ही इस नगरीका नाम चम्पानगर पड़ा था।

जैन ग्रन्थोंके अनुसार इस नगरीका प्रतिष्ठापक श्रेणिकका पुत्र कोणिक या इतिहास प्रसिद्ध अजातशत्रु था। हरिवंशपुराणमें भी चम्पाके १७ शासकोंके नाम गिनाये गये हैं, परन्तु उसमें अङ्गके प्रसिद्ध शासक 'पौरव' का नाम नहीं आया है। 'पौरव' के बारेमें कहा जाता है कि उसने एक लाख घोड़े, एक हजार हाथी, एक हजार गाय और एक लाख सोनेके मुहर दान किये थे। पौराणिक कालके बाद बौद्ध धर्मग्रन्थोंमें भी अङ्गकी महत्ताका वर्णन किया गया है। उसके बादके ग्रन्थ 'दशकुमार चरित्र' और कादम्बरीमें भी चम्पाका नाम आया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक चम्पानगर जैनियोंका बड़ा तीर्थ-स्थान है। वहाँके दो भव्य जैनमन्दिरोंको देखनेसे पता चलता है कि चम्पानगर बहुत प्राचीन समयसे ही जैनधर्मका केन्द्र रहा है। विद्वानोंके कथनानुसार जैनोंके बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्यने यहीं जन्म लिया था। उनके अलावा, कहा जाता है कि जैनियोंके बारहवें[1] तीर्थङ्कर महावीर भी कुछ वर्षों तक यहाँ रहे थे। बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्यका मन्दिर नाथनगर मुहल्लेमें है, जो आज भी शहरसे अलग बसा हुआ है और जिसे देखकर मन्दिरकी प्राचीनताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। चम्पानगरमें जैनियोंका एक दूसरा मन्दिर भी है जिसके बारेमें कहा जाता है कि उसे महावीर तीर्थङ्करके प्रमुख शिष्य सुधर्मने बनवाया था[2]। कहा जाता है कि जिस समय सुधर्म चम्पानगरीमें पधारे थे, वहाँ कोणिकका शासन था। राजा कोणिकने खुले पाँव नगरके बाहर आकर सुधर्मका स्वागत किया था[3]।

चम्पा बहुत वैभव सम्पन्न नगर था। वह व्यापारका एक बड़ा केन्द्र था। वहाँ चान्दो सौदागर नामक प्रसिद्ध व्यापारीके रहनेका वर्णन भी मिलता है।

चम्पानगरका एक दूसरा मुख्य स्थान कर्णगढ़ है। स्थान इतनी ऊँचाईपर है कि उसे देखकर ही यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमें वहाँ अवश्य ही किसी प्रतापी राजाका विशाल किला होगा। कुछ लोगोंका कहना है कि यह स्थान महाभारतके प्रसिद्ध सेनापति दानवीर कर्णका वासस्थान था। परन्तु, इतिहासके कुछ अन्य पंडितोंका कहना है कि चम्पानगरका यह कर्णगढ़ तथा मूँगेर जिलेका कर्ण चम्पा नामक स्थान, कर्ण सुवर्णके राजा "कर्णसेन" के प्रतिष्ठापित हैं। इस बातका अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। परन्तु, इतना अवश्य है कि यदि कर्णगढ़की खुदाई की जाय तो शायद प्राचीन बिहारके गौरवगाथाका एक नया अध्याय भी धरतीके गर्भसे प्रकाशमें लाया जा सकता है। आज कर्णगढ़में सरकारी पुलिसके रङ्गरूटोंको शिक्षा दी जाती है। कौन जाने, कभी वहाँ कर्णके रथके पहियों और घोड़ोंके टापोंकी आवाज बड़े-बड़े वीरोंके दिल न हिला देती हो।

आज हमारे देशकी अवस्था बदल चुकी है। इसीलिये जरूरत इस बातकी है कि धरतीके अन्दर दबे हुए प्राचीन बिहारके इतिहासका उद्धार किया जाय[4]। और यदि ऐसी कोई योजना बने तो उस समय चम्पानगरको भी भूलना न चाहिए।

---

१ भगवान् महावीर जैनोंके चौबीसवें तीर्थङ्कर थे, तीन चातुर्मास रहे थे। सं०।

२ इसका पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है। सं०।

३ भगवान् महावीर जब चम्पा पधारे तब कोणिक राज्यऋद्धि सहित वन्दना करने आया था, औपपातिक सूत्रमें इस घटनाको यथावत् रूपसे अङ्कित किया गया है। सं०।

४ बिहार सरकारके वर्तमान शिक्षामन्त्री इसके लिए चेष्टा तो करते हैं परन्तु इन दिनों वे और और समस्याओंमें बुरी तरह उलझे हुए हैं। आपने पोस्टवार स्कीममें खोज की भी एक स्कीम रखी है। सरकारी काम ठहरा, देखें कब तक इस योजनाको क्रियात्मक रूप मिलता है। सं०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

१—राष्ट्र-भाषापर जैन दृष्टिकोण

स्वाधीन भारतके सम्मुख आज जितनी भी समस्याएँ समुपस्थित हैं, उनमें राष्ट्र-भाषाकी भी एक ऐसी जटिल समस्या है जिसपर देशकी आम जनता एवं बुद्धिजीवियोंका दृष्टिबिन्दु केन्द्रित है। सभी वर्ग एक स्वरसे स्वीकार करते हैं कि अब हमारी भावी शिक्षा अंग्रेजीके माध्यम द्वारा न होकर हमारी ही राष्ट्र-भाषा द्वारा सम्पन्न हो। राष्ट्र-भाषा कैसी हो, क्या हो. और उसका स्वरूप किस प्रकारका होना चाहिए। यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनको लेकर देशमें तहलका-सा मचा हुआ है। जहाँतक राष्ट्र-भाषाका प्रश्न है वहाँपर जैसा वायु-मण्डल अभी है वह न होना चाहिए था। भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा राष्ट्र-भाषाके भिन्न-भिन्न स्वरूप जनताके सामने समुपस्थित हैं। यूँ तो कई मत राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें प्रतिदिन अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु प्रधानतः इन्हीं दो पक्षोंमें वे सभी अन्तरभुक्त हो जाते हैं। एक पक्षका कहना है कि राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसमें आर्यभाषा संस्कृतके शब्दोंकी बाहुल्यता हो। और वह देवनागरी लिपिमें ही लिखी जाय। उपर्युक्त पक्षके समर्थकोंका अभिमत है कि हिन्दी की उत्पत्ति ही सस्कृत भाषासे हुई है। दूसरा पक्ष कहता है कि राष्ट्र-भाषाका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि जनता सरलतासे उसे बोल और समझ सके। इसमें अरबी, फारसी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओंके शब्द भी अमुक संख्यामें रहें, और वह उर्दू तथा देवनागरी लिपिओंमें लिखी जाय।

भाषा और संस्कृतिका अभिन्न सम्बन्ध रहा है। किसी भी देशकी संस्कृति एवं सभ्यताके उन्नतिशील अमरतत्त्वोंका संरक्षण उसकी प्रधान भाषा तथा परिपुष्ट साहित्यपर अवलम्बित है। उभय धाराओंका चिर विकास राष्ट्र-भाषा द्वारा ही सम्भव है। भाषा भावोंको व्यक्त करनेका साधननात्र है। ऐसी स्थितिमें हमारा प्रधान कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम अपनी राष्ट्र-भाषाका स्वरूप समुचित रूपसे निर्धारित कर लें। यूँ तो सभी जानते हैं कि भाषा-का निर्माण राष्ट्रके कुछ नेता नहीं करते हैं। वह स्वयं बनती है। कलाकारों द्वारा उसे बल मिलता है। अन्ततः वह स्वयं परिष्कृत होकर अपना स्थान बना लेती है। परन्तु हमारे देशका दुर्भाग्य है कि राजनैतिक पुरुष कई भाषाओंके शब्दोंके सहारे एक नवीनभाषा बलात् जनतापर लाद रहे हैं, जो सर्वथा अप्राकृतिक अवैज्ञानिक एव अमाननीय है। वे लोग एक प्रकारसे प्रत्येक विषयपर राय देनेके अभ्यस्त-से हो गए हैं। इसीलिये सांस्कृतिक शुभेच्छुक राष्ट्र-भाषाके सुनिश्चित स्वरूपपर गम्भीरतासे अपना ध्यान आकृष्ट किए हुए हैं, जिनका अधिकार भी है। जिस व्यक्तिका जिस विषयपर गम्भीर अध्ययन न हो उसे उस विषयपर बोलनेका कुछ अधिकार नहीं रहता। जयपुर काँग्रेसमें हमारे माननीय नेताओं द्वारा राष्ट्र-भाषा पर जो कुछ भी कहा गया है, उससे सुख नहीं मिलता। देशको सांस्कृतिक दृष्टिसे जीवित रखनेवाले कलाकारोंके हृदयोंपर गहरी चोट लगी है। राष्ट्र-भाषा निर्धारित करनेका कार्य नेतागण अपनी कार्य सूचीसे अलगकर दें तो बहुत अच्छा होगा। क्योंकि उन्हें अपनी प्रतिभाको विकसित करनेके लिए पर्याप्त क्षेत्र मिला है। उदाहरणके लिए मान लीजिए (यदि यह है तो सर्वथा असम्भव) कि कहींकी ईंट कहींका रोड़ा वाली कहावतके अनुसार एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अमानवीय भाषा नेताओं द्वारा निर्मित होकर फाइलोंमें लिखकर रख भी दी पर इससे होगा क्या। जब कलाकार, लेखक और आम जनता उसका व्यवहार न करेगी, और वह करे भी क्यों? क्योंकि उनके पास तो पैतृक सम्पत्तिके रूपमें एक भाषा और साहित्य मिले हैं। जिनके बलपर वे अपनी भावनाओंको समुचितरूपसे व्यक्त कर लेंगे। जनता भी उसे आत्म-सात कर लेगी। यदि राष्ट्र-भाषा नियतरूपसे करनी ही तो उसका उत्तरदायित्व उन उच्चकोटिके साहित्य मर्मज्ञोंपर डालना चाहिए जिनका जीवन भाषा-विज्ञान और साहित्यके विभिन्न तत्त्वोंसे ओत-प्रोत हो।

प्रथम पक्षका मन्तव्य है कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी राष्ट्र-भाषा इसीलिए होनी चाहिए कि वह संस्कृतकी पुत्री है। आजके प्रगतिशील युगमें इस प्रकारकी बातोंका क्या अर्थ हो सकता है। वैयक्तिकरूपसे हम स्वयं संस्कृतनिष्ठ हिन्दीके पक्षपाती हैं। परन्तु हमें इस समर्थन-के पृष्ठ भागमें वैदिक मनोभावनाका आभास मिलता है। वह व्यापक हिन्दीको और भी संकुचित बना देगी। साम्प्रदायिकताका कटु परिणाम कैसा होता है, यह लिखनेकी बात नहीं। सारा विश्व इसे भुगत चुका है। अरबी-फारसीके बेमेल शब्दोंको हिन्दीमें ठूसना हम पसन्द नहीं करते हैं। न अपनी रचनाओंमें ही ऐसे शब्दोंका व्यवहार करते हैं। हिन्दीको संस्कृतकी पुत्री कहना न केवल उसे अपने बलसे अर्जित पदसे ही गिराना है। अपितु अपनी बुद्धिसे शत्रुता करना है। हिन्दी साहित्यका गम्भीर अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट होजाता है कि इसका उद्गम संस्कृतसे नहीं अपितु प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्रान्तीय भाषाओं द्वारा हुआ है। संस्कृत चाहे उतनी पुष्ट-भाषा क्यों न रही हो, फिर भी वह एक सम्प्रदायकी भाषा है। जबकि हिन्दी एक सम्प्रदायकी भाषा कभी नहीं रही। वह मानव भाषा रही है हिन्दू-मुसलमान आदि सन्तोंने इसी भाषाके द्वारा मानव सिद्धान्तोंका प्रचार सारे भारतमें किया। सच कहा जाय तो सन्त संस्कृतिके उच्चतम विकासमें हिन्दीने जो योगदान दिया है, वह अभूतपूर्व है। सारे भारतको १८०० वर्षों तक सांस्कृतिक सूत्रमें यदि किसी भी भाषाने बाँध रक्खा है तो वह केवल हिन्दी ने ही। स्पष्ट कहा जाय तो भारतीय मस्तिष्ककी समस्त चिन्ताओंका विकास उस हिन्दीके द्वारा हुआ। जिसके स्वरूप निर्धारणमें आज जितनी माथापच्ची नहीं करनी पड़ी थी। अतः संस्कृतके अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओंके शब्द अपेक्षाकृत अधिक पाए जाते हैं। जो शब्द खप गए हैं, उनको चुन-चुनकर बाहर करना राष्ट्र-भाषाके भण्डारको क्षति पहुंचाना है। यह हो सकता है कि एक ही भाषा प्रत्येक समयमें दो रूपोंमें रहती है। विद्व-द्भोग्य और लोकभोग्य।

दूसरे पक्षकी बातको कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। हमारा निश्चित विश्वास है कि थोड़े-थोड़े कई भाषाओंके शब्द एकत्र करनेके बाद जो भाषा बनती है वह इतनी पंगु होती है कि बृहत्तर वैयक्तिक परिवारमें भी विवर्धित नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें भारतीय संस्कृति एवं लोक जीवनका समुचित व्यक्तिकरण हो ही कैसे सकता है।

हिन्दुस्तानीकी हवा जिन राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओंको लेकर खड़ी की गई थी अब वैसी परिस्थिति नहीं रही। जिनको लक्ष करके इसकी सृष्टि की गई उन्होंने अपना क्षेत्र स्वयं बना लिया है।

राष्ट्र-भाषाकी समस्या उलझी हुई तो है ही परन्तु आन्दोलनके चक्करमें डालकर न जाने और भी क्यों जटिल बनाया जाता है। भारतीय-विद्वान—जिनके हृदयमें भाषा विषयक प्रश्नके पश्चात् भागमें किसी भी तरहका साम्प्रदायिक तत्त्व काम न करते हों—यदि राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें जैन दृष्टिकोणको समझ लें तो समस्या बहुत कुछ अंशोंमें बिना किसी भी बातको सरलता पूर्वक समझाई जा सकती है। भारतीय भाषा और साहित्यके संरक्षणमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार्योंने बहुत बड़ा योगदान दिया है। उनके सामने आदर्श था भगवान महावीरका। जिसमें अपनी विचार धाराका निर्मल प्रवाह तत्कालीन प्रान्तीय भाषा द्वारा बहाया था। भगवान बुद्धके उपदेश भी इस बातके प्रमाण हैं। जैन विद्वान संस्कृत आदि विद्वद्भोग्य भाषाओंमें ग्रन्थ निर्माण करके ही चुप नहीं रहे हैं। उन्होंने विभिन्न प्रान्तोंमें रहकर प्रत्येक शताब्दियोंमें लोक भोग्य साहित्यकी सरिता बहाकर तत्कालीन लोक संस्कृतिको आलोकित किया। लौकिक भाषामें संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डितोंने रचना करना अपना अपमान समझा इससे वे एकाङ्गी साहित्य निर्माता ही रह गये। जिन जीवोंकी गहराई तक वे न पहुंच सके। जब कि जैनाचार्योंके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी जनता की। वे जनताको दर्शन, एवं साहित्यके उच्चकोटिके तत्त्वोंका परिज्ञान सरल और बोधगम्य भाषामें कराना चाहते थे। इस कार्यमें वे काफी सफल रहे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे विद्वद्भोग्य साहित्य निर्माणमें पश्चात् याद रहे। आज हम किसी भी प्रान्तके लोक साहित्यको उठा कर देखेंगे तो पता चलेगा कि प्रत्येक प्रान्तकी जनभाषाओंके विकासमें भी जैनोंने साहित्य निर्माणमें कितना असांप्रदायिकता-से काम लिया है जब जिस भाषाका प्रभुत्व रहा उसीकी साधनामें वे तल्लीन रहे हैं। कारण कि जब संस्कृतिके नैतिक उत्थानकी भावनाओंसे उनका हृदय ओत-प्रोत था। ऊपर हम लिख आए हैं कि हिन्दी भाव और भाषाकी दृष्टिसे अपभ्रंशकी पुत्री है अपभ्रंशका साहित्य जो कुछ भी आज भारतमें प्राप्त होता है, वह जैनोंकी बहुत बड़ी देन है। भाव स्वातन्त्र इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। राहुलजीके शब्दोंमें—

"अपभ्रंशके कवियोंका विस्मरण करना हमारे लिए हानिकी वस्तु है। यही कमी हिन्दी काव्यधाराके प्रथम स्रष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और बाणकी सिर्फ जूठी पत्तलें नहीं चाटते रहे। बल्कि उन्होंने एक योग्य पुत्रकी तरह हमारे काव्य-क्षेत्रमें नया सृजन किया है। नये चमत्कार नए भाव पैदा किए हैं।

हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी, और तुलसीके यही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं। उन्हें छोड़ देनेसे बीचके काललमें हमारी बहुत हानि हुई और आज भी उसकी सम्भावना है।

जैनोंने अपभ्रंश साहित्यकी रचना और उसकी सुरक्षामें सबसे अधिक काम किया है।"

१३ तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंशमें प्रौढत्व रहा। बादमें वही अपभ्रंश क्रमशः विकसित होते होते प्रान्तीय भाषाओंके रूपमें परिणित हो गई। एक समय वह जनताकी भाषा थी ज्यों-ज्यों उच्चकोटिके कलाकारों द्वारा समादृत होती गई त्यों-त्यों वह विद्वद्भोग्य साहित्यकी प्रधान भाषा बन गई। अपभ्रंश भाषाका शब्द भण्डार विस्तृत है और बहुत कुछ अंशोंमें वह संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृतका अनुधारण करता है। अतः बिना किसी हिचकसे कहा जा सकता है, कि हिन्दीका उत्पत्ति स्थान अपभ्रंश है। जो परिवर्तनशील भाषा रही थी। दुःख इस बातका है कि हिन्दी साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान जैनोंके इस विशाल अपभ्रंश साहित्यसे एकदम परिचित नहीं हैं। यही कारण है कि आज राष्ट्र-भाषाकी समस्या उलझी हुई है।

हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल, कन्नड़ और राजस्थानी आदि सभी प्रान्तीय भाषाओंमें जैनोंने न केवल भगवान 'महावीर' द्वारा प्रचारित मानव संस्कृति और सभ्यताके उच्चतम अमर तत्वोंका सुबोध भाषामें गुम्फन किया अपितु तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, रीतिरिवाज एवं आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर भी सङ्केतकर जनताके नैतिक स्तरको ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रान्तमें जब कभी जिस भाषाका प्रभुत्व रहा उसीके माध्यम द्वारा जैनोंने अपने विचार जनताके समक्ष रक्खे हैं। 'प्रान्तीय' जातिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषाओंमें साहित्यिक रचना करनेमें जो अपनेको अपमानित समझते थे वे पूँजीपति या एक वर्गविशेषके ही कलाकार रह गए हैं। जबकि जैनी जनताके पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहे हैं। भाषा-विषयक जैनोंके औदार्यपूर्ण आदर्शको आजके साहित्यिक यदि मान लें और राष्ट्र-भाषाकी समस्या जनतापर छोड़ दें तो मार्ग बहुत सुगम हो जायेगा। यदि हमारे देशी शब्दोंसे ही समुचितरूपसे भावोंका व्यक्तीकरण हो जाता है तब यह कोई आवश्यक नहीं है कि विदेशी शब्दोंको चुन-चुनकर राष्ट्र-भाषामें ठूसें। जैन दृष्टिकोण राष्ट्र-भाषापर इतना अवश्य कहेगा कि हिन्दी उस राष्ट्रकी भाषा होने जारही है, जिसकी संस्कृतिमें विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओंका समन्वयात्मक प्रयास वर्षोंसे चला आ रहा है। कई जातियोंका यह महादेश है। उसपर यह सिद्धान्त कैसे लादा जा सकता है कि राष्ट्र-भाषामें अमुक भाषाके शब्द अधिक रहें। वैयक्तिकरूपसे हम भले ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दीका व्यवहार करें। परन्तु भाषाका प्रश्न व्यष्टिसे न होकर समष्टिसे है। भाषाका प्रवाह शताब्दियोंसे जिस रूपसे चला आरहा था उसीको कुछ परिवर्तितरूपमें क्यों नहीं बहने दिया जाता? साहित्यिक भले ही कठिनतर शब्दोंका प्रयोग करें, परन्तु अशिक्षित या अल्पशिक्षाप्राप्त मानवोंसे वे ऐसी आशा क्यों कर रहे हैं? राष्ट्र-भाषा न बनारसी हिन्दी हो सकती है न लाहोरी उर्दू ही। किसी भी प्रान्तकी शब्दावलियोंसे प्रचलित शब्दोंको यदि हम अपनी वर्तमान हिन्दीमें पचा लेते हैं तो बुरा ही क्या है? क्योंकि हिन्दी जीवित भाषा है मृत नहीं। जबतक जीवन है तबतक परिवर्तन होते ही रहेंगे। परिवर्तनशीलताके सिद्धान्तसे जितनी भी बचानेकी चेष्टा की जाएगी उतनी ही हमें हानि उठानी पड़ेगी। अतः संक्षिप्तमें जैन दृष्टिकोणका यही सारांश है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी सरल-सुबोध होनी चाहिए। साथ ही साथ इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि इसमें जहाँतक हो सके उन्हीं भाषाओंके शब्दोंकी बाहुल्यता रहे जिनमें आर्य-संस्कृतिका समुचित व्यक्तीकरण सरलता पूर्वक हो सके। यह कोरा आदर्श ही नहीं है, अपितु शताब्दियों तक अनुभवकी वस्तु रहा है।

डालमियाँनगर, ता० २१-१-४६ ई० मुनिकांतिसागर

२—अनेकान्तकी वर्ष-समाप्ति और अगला वर्ष

इस संयुक्त किरण (११, १२)के साथ अनेकान्तका नवमा वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी कितनी और क्या कुछ सेवा की उसे यहाँ बतलानेकी जरूरत नहीं—वह उसके गुणग्राही पाठकोंपर प्रकट है। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि इस वर्ष यदि कोई विशेष सेवाकार्य हो सका है तो उसका श्रेय सहयोगी सम्पादकों और खासकर भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय मन्त्री 'भारतीयज्ञानपीठकाशी'को प्राप्त है—उन्हींकी सुव्यवस्थाका वह फल है, और जो कुछ त्रुटि रही है वह सब मेरी है—मेरी अयोग्यताको ही उसका एकमात्र जिम्मेदार समझना चाहिये। मैं यहाँपर जो कुछ बतलाना चाहता हूँ वह प्रायः इतना ही है कि अनेकान्तके आठवें वर्षकी समाप्तिपर, जिसका कार्यकाल १२की जगह २४ महीनेका होगया था, मेरे सामने पत्रको बन्द करनेकी समस्या उपस्थित हो रही थी; क्योंकि प्रेसोंके आश्वासन-भङ्ग और गैरजिम्मेदाराना रवैये आदिके कारण मैं बहुत तङ्ग आगया था, मेरा दिल टूट गया था और मैं प्रेसकी समुचित व्यवस्था न होने तक पत्रको बन्द करना ही चाहता था कि प० अजितकुमारजी शास्त्रीने, जो अपना 'अकलङ्क प्रेस' मुलतानसे सहारनपुर ले आए थे, मुझे वैसा करनेसे रोका और पूरी दृढ़ताके साथ अनेकान्त-को अपने प्रेसमें बराबर समयपर छापकर देनेका वचन तथा आश्वासन दिया। तदनुसार ही अनेकान्तको अगले वर्ष निकालनेका संकल्प किया गया और उसकी सूचना 'सम्पादकीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्तव्य'में प्रकट कर दी गई। इसके बाद श्रीगोयलीयजी मुझसे मिले और उन्होंने भारतीय-ज्ञानपीठके साथ अनेकान्तका सम्बन्ध जोड़कर और उसके प्रकाशन, सञ्चालन एवं आर्थिक आयोजनकी सारी जिम्मेदारीको अपने ऊपर लेकर मुझे और भी निराकुल करनेका आश्वासन दिया। चुनाँचे ९वें वर्षकी प्रथम किरणके शुरूमें ही मैंने अनेकान्तकी इस नई व्यवस्थादिको प्रकट करते हुए उसपर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और उसीके आधारपर अनेकान्तके पाठकोंको यह आश्वासन दिया कि 'अब पत्र बराबर समयपर (हर महीनेके अन्तमें) प्रकाशित हुआ करेगा।'

मुश्किलसे दो किरण निकाल कर ही पं० अजितकुमारजी शास्त्री अपने प्रेसको देहली उठाकर ले गये और उन्होंने अपने दिये हुए सारे वचन तथा आश्वासनपर पानी फेर दिया! मजबूर होकर अनेकान्तको फिरसे चार्ज बढ़ाकर रॉयल प्रेसकी शरणमें ले जाना पड़ा, जो सहारनपुरमें सबसे अधिक जिम्मेदार प्रेस समझा जाता है। परन्तु प्रेसमें उपयुक्त टाइपों-की कमीके कारण प्रायः हर चार पेजके प्रूफके पीछे एक विद्वानको प्रूफरीडिङ्गके लिये सहारनपुर जाना आना पड़ा है, जिससे पत्रको समयपर निकाला जा सके जिसकी गोयलीयजी की ओरसे सख्त ताकीद थी और इस तरह एक एक फार्मके पीछे कितना ही फालतू खर्च करना पड़ा है और दोबारा भी प्रेसका चार्ज बढ़ाना पड़ा है; फिर भी पत्र समयपर प्रकाशित न हो सका और यह किरण ३-४ महीनेके विलम्बसे प्रकाशित हो रही है।

गोयलीयजीको इस सारी स्थितिसे बराबर अवगत रक्खा गया है और अनेक बार यह प्रार्थना तथा प्रेरणा की गई है कि वे अनेकान्तकी छपाईकी सुव्यवस्था इलाहाबादके लाजर्नल प्रेस अथवा बनारसके किसी अच्छे प्रेसमें करें; परन्तु हरबार उन्होंने इस ओर उपेक्षा ही धारण की—कभीकभी लाजर्नल प्रेसके अधिक चार्ज और वहाँ ठीक व्यवस्था न बन सकनेकी बात भी कही, और इसलिये यह समझा गया कि आप अनेकान्तका समय-पर सुन्दररूपमें प्रकाशित होना तो देखना चाहते हैं किन्तु किन्हीं कारणोंके वश व्यवस्थाका भार अपने ऊपर लेकर भी, उसके लिये योग्य प्रेसादिकी व्यवस्था करनेमें योग देना नहीं चाहते। इसीसे अन्तको विलम्बकी शिकायत होनेपर इधरसे उस विषयमें अपनी मजबूरी ही जाहिर करना पड़ी।

आठवें वर्षकी किरणें जब एक वर्षकी जगह दो वर्षमें प्रकाशित हो पाई थी और पाठकोंको प्रतीक्षाजन्य बहुत कष्ट उठाना पड़ा था तब उनका विश्वास अनेकान्तके समयपर प्रकाशित होनेके विषयमें प्रायः उठ गया था और इसलिये उनका आगेके लिये ग्राहक न रहना बहुत कुछ स्वाभाविक था; चुनाँचे तीसरी किरण जब वी० पी० की गई तब लगभग आधे ग्राहकोंकी वी० पी० वापिस हो गई। इधर पत्रमें फिरसे विलम्ब शुरू हो गया और उसमें सञ्चालन विभागकी ओरसे चित्रों आदिका कोई आयोजन नहीं हो सका, जो आजकलके पत्रोंकी एक खास विशेषता है। इससे नये ग्राहकोंको यथेष्ट प्रोत्साहन नहीं मिला और उधर छपाई तथा कागज आदिके चार्ज बढ़ गये। पत्रको सहायता भी कम प्राप्त हुई। इन्हीं सब कारणोंसे अनेकान्तको इस वर्ष काफी घाटा उठाना पड़ा है, जिसका मुझे खेद है।

कुछ दिन हुए न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने अपने एक पत्रमें यह सूचना की कि अनेकान्तको समयपर प्रकाशित करनेके लिये बनारसमें प्रेसकी अच्छी योजना हो सकती है। तदनुसार गोयलीयजीको उसकी सूचना देते हुए फिरसे बनारसमें ही छपाईकी योजना करनेकी प्रेरणा की गई; परन्तु उन्होंने उत्तरमें डालमियानगरसे भेजे हुए अपने तीन मार्चके पत्रमें यह लिखा कि "बनारसमें भी छपाईकी अच्छी व्यवस्था नहीं है। ज्ञानपीठका प्रकाशन जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीमी रफ्तारसे होरहा है, उससे मुझे 'अनेकान्त' बनारससे प्रकाशित करनेकी तनिक भी हिम्मत नहीं होती।" इसे पढ़कर हृदयमें उदित हुई आशापर फिरसे तुषारपात हो गया और मैं यही सोचने लगा कि यदि गोयलीयजीने प्रेसकी कोई समुचित व्यवस्था न की तो मुझे अब वीरसेवामन्दिरकी ओरसे एक स्वतन्त्र प्रेस खड़ा करना ही होगा, जिसकी उसके तय्यार ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ भी एक बहुत बड़ी जरूरत दरपेश है और इसलिये इस किरणमें प्रेसकी व्यवस्था तक कुछ महीनोंके लिये अनेकान्तको बन्द रखनेकी सूचना कर देनी होगी। परन्तु पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि डालमियानगरसे बनारस जानेपर गोयलीयजीका विचार बदल गया और उनमें मुनिकान्तिसागरजी आदिकी प्रेरणाको पाकर उस हिम्मतका संचार हो गया जिसे वे अपनेमें खोए हुए थे और इसलिये अब वे बनारससे 'अनेकान्त'को प्रकाशित करनेके लिये तत्पर होगये हैं; जैसा कि इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित उनके 'प्रकाशकीय वक्तव्य'से प्रकट है। वक्तव्यके अनुसार अब 'अनेकान्त' बिलकुल ठीक समयपर निकला करेगा, सुन्दर तथा कलापूर्ण बनेगा, बहुश्रुत विद्वानोंसे लेखोंके माँगनेके लिये मुँह खोलनेमें किसीको कोई संकोच नहीं होगा, जैनेतर विद्वानोंके लेखोंसे भी पत्र अलंकृत रहेगा और उनके लेखोंको प्राप्त करनेमें आत्मग्लानि तथा हिचकचाटका कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा—ज्ञानपीठ उसके पीछे जो भी व्यय होगा उसे उठानेके लिये प्रस्तुत है। और इसलिये 'अनेकान्त' आगेको घाटेमें न चलकर दूसरे पत्रोंकी तरह लाभमें ही चलेगा, उसके हितैषियोंकी संख्या भी आवश्यकतासे अधिक बढ़ जायगी और फिर गोयलीयजीको अपने विद्वानोंका "प्रेसमें जूतियाँ चटकाते फिरना" भी नहीं खटकेगा अथवा उसका अवसर ही न आएगा। संक्षेपमें अबतक जो कुछ कमी अथवा त्रुटि रही है वह सब पूरी की जायगी। इससे अधिक ग्राहकों तथा पाठकों आदिको और क्या आश्वासन चाहिये? मुझे गोयलीयजीके इन दृढ़ सङ्कल्पोंको मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई। हार्दिक भावना है कि उन्हें अपने इन सङ्कल्पोंको पूरा करनेमें पूर्ण सफलताकी प्राप्ति होवे और मुझे अपने प्रिय 'अनेकान्त'को अधिक उन्नत अवस्थामें देखनेका शुभ अवसर मिले।

अन्तमें मैं इस वर्षके अपने सभी विद्वान लेखकों और सहायक सज्जनोंका आभार व्यक्त करता हुआ उन्हें हृदयसे धन्यवाद देता हूँ और इस वर्षके सम्पादन-कार्यमें मुझसे जो कोई भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय कर्तव्यके अनुरोधवश किये गये मेरे किसी कार्य-व्यवहार से या स्वतन्त्र लेखसे किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये मैं हृदयसे क्षमा-प्रार्थी हूँ; क्योंकि मेरा लक्ष्य जानबूझकर किसीको भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यमें उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है। साथ ही, यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि अगले वर्ष मैं पाठकोंकी सेवामें कम ही उपस्थित हो सकूँगा; क्योंकि अधिक परिश्रम तथा वृद्धावस्थाके कारण मेरा स्वास्थ्य कुछ दिनोंसे बराबर गड़बड़में चल रहा है और मुझे काफी विश्रामके लिये परामर्श दिया जा रहा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २५-३-१९४९ जुगलकिशोर मुख्तार

सर सेठ साहबका विवाहोत्सवपर अनुकरणीय दान—

अनेक पदविभूषित सर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौरके शुभ नामसे समाजका बच्चा २ परिचित है। राष्ट्र, समाज और धर्मके क्षेत्रमें आपके द्वारा प्रारम्भसे ही अनेक उल्लेखनीय सेवाएँ हुई हैं और आज भी होरही हैं। समाजके आह्वानपर आप सदा उसकी सेवाके लिये आगे खड़े मिलते हैं। उनकी दानवीरता, विनम्रता और सहानुभूति तो अतुलनीय हैं। और इन्हीं गुणोंके कारण वे आजकी स्थितिमें भी, जब पूँजी और अपूँजीका संघर्ष चालू है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय वक्तव्य

वर्षके प्रारम्भमें 'अनेकान्त'के रूपमें परिवर्तन करने और उसमें प्रगति लानेके लिये श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया, पं० परमानन्दजी शास्त्री और मेरी वीरसेवामन्दिरमें एक बैठक की गई थी। इस बैठकमें काफी ऊहापोहके बाद सम्पादक मण्डलका निर्माण किया गया था और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त श्रद्धास्पद मुनि कान्तिसागरजीको भी सम्मिलित किया गया था तथा मेरी और पं० दरबारीलालजी कोठियाकी सेवायें भी स्वीकृत की गई थीं। हर्ष है कि मुनि कान्तिसागरजीने भ्रमणमें रहते हुए भी अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। आन्तरिक अभिलाषा थी कि 'अनेकान्त'को जिस तरह हम देहलीसे प्रारम्भमें तीन वर्षोंसे प्रकाशित करते रहे हैं उसी तरहसे वह नियमितरूपमें निकलता रहे। लेकिन सहारनपुरके अच्छेसे अच्छे और जिम्मेदारसे जिम्मेदार प्रेससे मनमाने दामोंपर कॅण्ट्रैक्ट करनेपर भी न 'अनेकान्त' समयपर निकाल सके और न उसे सुन्दर ही बना सके। और इसी आत्मग्लानिके कारण हम जैनेतर विद्वानोंसे लेख माँगनेमें भी हिचकिचाते रहे।

श्रद्धेय मुनिजीका विचार है कि 'अनेकान्त'का प्रकाशन बनारससे हो, जिससे प्रेसादि सम्बन्धी बहुत कुछ असुविधाओंसे बचा जा सकेगा तथा जैनेतर विद्वानोंके लेखोंसे भी उसे अलंकृत किया जा सकेगा। इसके लिये जो व्यय होगा ज्ञानपीठ उसको उठानेके लिये प्रस्तुत है।

इस वर्षमें ज्ञानपीठने 'अनेकान्त'को काफी घाटेमें प्रकाशित किया है, जबकि आज हिन्दीके पत्र-पत्रिकाएँ लाभमें चल रही हैं तब जैनसमाज-जैसे सम्पन्न समुदायका पत्र यूँ रिं रिं करके प्रकाशित हो, हमारे सब उत्साहपर पानी फेर देता है। समझमें नहीं आता कि हम किस मुँहसे बहुश्रुत विद्वानोंसे लेख माँगें और प्रेसमें जूतियाँ चटकाते फिरें। खैर इसमें दोष हम अपना ही समझते हैं। जैसी पाठ्यसामग्री चाहिए वैसी उन्हें नहीं दे पाये और कलापूर्ण प्रकाशन भी नहीं कर पाये। हमारा विश्वास है कि हम काश! ऐसा करते तो अनेकान्तके हितैषियोंकी संख्या आवश्यकतासे अधिक बढ़ती और अनेकान्त और भी ज्यादा लोकप्रिय होता।

हम अब आगामी वर्ष इस कमीको भी पूरा करनेका प्रयत्न करेंगे। और अनेकान्तके निम्न स्थायी स्तम्भ जारी रखेंगे—

१–कथाकहानी, २–स्मृतिकी रेखाएँ, ३–कार्यकर्ताओंके पत्र, ४–गौरवगाथा, ५–हमारे पराक्रमी पूर्वज, ६–पुरानी बातोंकी खोज, ७–सुभाषित, ८–शङ्कासमाधान और ९–सम्पादकीय।

अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री 'भारतीयज्ञानपीठ' काशी।

लोक-प्रिय बने हुए हैं और लोक-हृदयोंमें विशिष्ट आदरको प्राप्त हैं। निःसन्देह यह सद्भाग्य उनकी सेवाओंका प्रतिरूप है, जो कम लोगोंको प्राप्त होता है।

गत फरवरीमें आपके पौत्रका देहलीमें विवाह था, जो कहते हैं देहलीके ज्ञात इतिहासमें अभूतपूर्व था, उसके उपलक्षमें आपने छयालीस हज़ार ४६०००)का अनुकरणीय दान किया है। पचीस हज़ार देहलीकी विभिन्न संस्थाओंके लिये और इक्कीस हज़ार समाज-की विविध संस्थाओंके लिये दिये गये हैं। जहाँतक हमें ज्ञात है, विवाहोत्सवपर इतना बड़ा दान समाजमें पहला दान है। हमारे यहाँ विवाहके दूसरे मदोंमें तो बड़ा खर्च किया जाता है पर दानमें बहुत कम निकाला जाता है। यदि समाज फिजूलखर्चीको घटाकर इस दिशामें गति करे तो विवाह एक बोझा मालूम न पड़ेगा और सामाजिक संस्थाएँ भी समृद्धि तथा समुन्नत होंगी।

सरसेठ साहबने उक्त दानमेंसे दोसौ एक २०१) रुपये वीरसेवामन्दिरकी सहायतार्थ भी भिजवाये हैं जिसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। —दरबारीलाल जैन कोठिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीसरोजिनी नायडूका वियोग !

१ मार्च १९४९को रात्रिके ३॥ बजे हमारे प्रान्तकी गवर्नर श्रीसरोजिनी नायडूका हृदयकी गति रुक जानेसे सदाके लिये दुखद वियोग हो गया ! आप स्वतन्त्रभारतमें युक्त-प्रान्तकी प्रथम गवर्नर थीं। भारतीय और विश्वकी महिलासमाजके लिये यह गौरवकी बात है। राष्ट्रके स्वतन्त्रता-संग्राममें आप सदा गाँधीजीके साथ रहीं और अनेकों बार जेल गईं। भारतके लिये आपकी सेवाएँ अद्भुत हैं। विश्वमें आप अपनी विख्यात कविताओं और मधुर एवं प्रतिभाशालिनी वक्तृताओंके कारण भारतकोकिला या बुलबुले हिन्दके नामसे मशहूर थीं। आपके वियोगमें सारे भारतने शोक प्रकट किया और ११ मार्चको सर्वत्र मातम मनाया गया। आपके स्थानकी शीघ्र पूर्ति होना कठिन जान पड़ता है। देशकी ऐसी विभूतिके प्रति वीरसेवामन्दिर परिवार अपनी शोक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और परलोकमें सद्गति एवं सुख-शान्तिकी भावना प्रकट करता है।

एक समाजसेवकका निधन !

गत माघ कृष्णा २ सं० २००५को प्रसिद्ध समाजसेवी मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुरका शोकजनक देहावसान हो गया ! मास्टर साहब एक निःस्वार्थसेवी और कर्मठ व्यक्ति थे। सहानुभूति और दयासे उनका हृदय भरा हुआ था। उनका सारा जीवन गरीबोंकी मदद करने, असहाय विद्यार्थियोंकी सहायता करने और घरघर ज्ञान-प्रचार करनेमें बीता। उनका कोई ३० हजार पुस्तकोंका पुस्तकालय, जिसे उन्होंने १९२०में स्थापित किया और जिसके द्वारा अपने जीवनकालमें २९ वर्ष तक जनताकी सेवा की, जयपुरके पुस्तकालयों-में अच्छा और उल्लेखनीय माना जाता है। जयपुरके शास्त्रभण्डारोंसे हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सुप्राप्ति प्रायः मास्टर साहबके प्रयत्नोंसे ही होती थी। उन्हें इस बातकी बड़ी इच्छा रहती थी कि अप्रकाशित ग्रन्थोंका प्रकाशन हो और वे जनता तक पहुँचें। वीरसेवामन्दिर और उसके साहित्यिक कार्योंके प्रति उनका विशेष प्रेम था। विद्वानोंके सहयोग सत्कारके लिये उनका हृदय सदा खुला रहता था। वे जयपुरकी ही नहीं, सारे समाजकी एक श्रेष्ठ विभूति थे। उनके निधनसे समाजका एक परखा हुआ और सच्ची लगनवाला सेवक उठ गया ! स्वर्गीय आत्मा-के लिये वीरसेवामन्दिर परिवार सद्गति एवं शान्तिकी कामना करता हुआ उनके कुटुम्बी जनोंके प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करता है।

क्या ही अच्छा हो, मास्टर साहबके अमर स्मारक पुस्तकालयको समाज सुस्थिर और अमर बना दे।

लाला रूढामलजी सहारनपुरका देहावसान !

सहारनपुरके लाला नारायणदास रूढामलजी जैन शामियानेवालोंका गत १९ फरवरी १९४९को देहावसान हो गया। आप बड़े ही सज्जन और धार्मिक थे। सबसे बड़े प्रेमसे मिलते थे। वीरसेवामन्दिर और उसके कार्योंसे विशेष प्रेम रखते थे। हम स्वर्गीय आत्माके लिये शान्तिकी कामना और कुटुम्बी जनोंके प्रति समवेदना प्रकट करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य-शान्ति और लोकहितके सन्देशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और
समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण मासिक

नवम वर्ष

पौषसे मार्गशीर्ष, वीर निर्वाण संवत् २४७४–७५

सम्पादक-मण्डल

जुगलकिशोर मुख्तार (प्रधान सम्पादक)
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय, डालमियानगर

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

संचालक-व्यवस्थापक
भारतीयज्ञानपीठ, काशी

प्रकाशक
परमानन्द जैन शास्त्री
वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये | मार्च सन् १९४९. | एक किरणका आठ आने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्तके नववें वर्षकी

विषय-सूची

विषय और लेखक	पृष्ठ
अतिशयक्षेत्र श्रीकुण्डलपुर–[श्रीरूपचन्द बजाज	३२१
अद्भुत बन्धन (कविता)–[पं० अनूपचन्द न्याय-तीर्थ	७१
अनेकान्त–[महात्मा भगवानदीन	१४३
अपने ही लोगों द्वारा बलि किये गये महापुरुष	१५७
अपभ्रंशका एक शृङ्गार-वीर काव्य–[रामसिंह तोमर एम० ए०	३९४
अपहरणकी आगमें झुलसी नारियाँ–[अयोध्या-प्रसाद 'गोयलीय'	३१६
अमूल्य तत्त्वविचार–[श्रीमद्राजचन्द्र	१४०
अहारक्षेत्रके प्रचीन मूर्तिलेख–[पं० गोविन्ददास जी कोठिया	३८३
अहिंसा तत्त्व–[चुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी	२१९
आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी–[पं० परमानन्द शास्त्री	२५
आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डका भिन्नकर्तृत्व –[डा० हीरालाल जैन एम० ए०	९
इज्जत बड़ी या रुपया–[अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१४१
कथित स्वोपज्ञ भाष्य–[बा० ज्योतिप्रसाद एम. ए.	२११
करनीका फल (कथाकहानी)–[अयोध्याप्रसाद गोयलीय	७२
कामना (कविता)–[युगवीर'	३२७
कर्म और उसका कार्य–[पं० फूलचन्द सिद्धान्त-शास्त्री	२५२
कुत्ते (कथा-कहानी)–[अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१८२
क्या सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तकालमें स्त्रीवेदी हो सकता है ?–[बाबू रतनचन्द मुख्तार	७३
गाँधीकी याद (कविता)–[फ़ज़लुलरहमान जमाली	८२
गाँधीजीका पुण्यस्तम्भ–[डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल	९१
गाँधीजीकी जैनधर्मको देन–[पं० सुखलाल संघवी	३६९
चतुर्थ वाग्भट्ट और उनकी कृतियाँ–[पं० परमा-नन्द जैन शास्त्री	७६
चम्पानगर–[श्यामलकिशोर झा	४८१
जयस्याद्वाद–[प्रो० गो० खुशालचन्द जैन एम. ए.	१५४
जीरापल्ली पार्श्वनाथ स्तोत्र–[सं० जुगलकिशोर मु.	२४६
जीवका स्वभाव–[श्रीजुगलकिशोर काग़ज़ी	२५१
जैन अध्यात्म–[पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य	३३५
जैन कॉलोनी और मेरा विचार–[जुगलकिशोर मु.	१३
जैन तपस्वी (कविता)–[कवि भूधरदास	१२५
जैनधर्म बनाम समाजवाद–[पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य	१८९
जैनधर्मभूषण ब्र० सीतलप्रसादजीके पत्र –[गोयलीय	३५२, ४०६
जैनपुरातन अवशेष (विहंगावलोकन)–[मुनि-कान्तिसार	२२५, २६१
तीन चित्र–[जमनालाल 'साहित्यरत्न'	३४१
त्यागका वास्तविक रूप–[चुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी	२५०, १८३
दान-विचार–[चुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी	२६७
धर्म और वर्तमान परिस्थितियाँ–[पं० नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	४६७
धर्मका रहस्य–[पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री	३०३
नर्स (कहानी)–[बालचन्द एम० ए०	३९१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org